ॐ
नादयोग

नाद योग

(नाद योग का तात्त्विक विवेचन, वैज्ञानिक स्पष्टीकरण, मनोलय और ईश्वर साक्षात्कार का साधना विधान)

लेखक :

डा० चमनलाल गौतम

रचयिता :—योग महाविज्ञान, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, योगासन से रोग निवारण, सूर्य नमस्कार से रोग निवारण, भक्तियोग, अष्टांग योग रहस्य, अष्टांग योग सिद्धि, कुण्डलिनी जागरण आदि।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली–२४३००३ (उ० प्र०)

फोन : ७४२४२

प्रकाशक:
डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००३ (उ. प्र.)
फोन नं० ७४२४२

लेखक:
डा० चमनलाल गौतम

संशोधित संस्करण
१९८४

मुद्रक:
राजेन्द्र कुमार शर्मा
व्यास प्रिंटिंग प्रेस,
गजापायसा, मथुरा।

मूल्य:
सात रुपये मात्र

भूमिका

ऋषियों ने समाधि व्यवस्था में देखा था कि प्रकृति के अन्तराल में निरन्तर एक सूक्ष्म ध्वनि निःसृत होती रहती है जो परमाणुओं में गति उत्पन्न करके सृष्टि की रचना और संचालन का महान उत्तरदायित्व निभाती रहती है। इस प्रारम्भिक ध्वनि का उन्होंने ॐ नाम दिया। यह ओंकार ध्वनि जिस तत्व के साथ सम्पर्क स्थापित करती है, उसी तरह की विभिन्न स्वर लहरियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। इन स्वर लहरियों के श्रवण को ही नाद योग की संज्ञा दी गई है।

प्राचीन काल से ही ऋषि इस नाद योग को आध्यात्मिक उत्थान के लिए एक उच्च साधना के रूप में अनुभव करते रहे हैं। जिस तरह से सङ्गीत को सुनकर सर्प की नस-नाड़ियों में एक विद्युत लहर प्रवाहित होती है और वह उसमें तन्मय हो जाता है, उसी तरह से सर्प रूपी मानव मन भी अपने अन्तर की स्वरलहरियों से इतना तरङ्गित होता है कि साधक के शरीर में एक दिव्य झंकार निस्तर सुनाई देती है, उसके रोम-रोम में विद्युत का संचार होने लगता है और वह अपनी सारी चपलताएँ भूलकर इन्हीं स्वर लहरियों में खो जाता है।

नाद की स्वर लहरियों में सरल रूप से एकाग्र हुआ मन बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित करने का महान कार्य सम्पादन करता है। अध्यात्म मार्ग के पथिक जानते हैं कि मन की एकाग्रता से इतनी असाधारण शक्ति विकसित की जा सकती है जिसकी तुलना संसार की कोई भी बड़ी से बड़ी शक्ति नहीं कर सकती। नाद योग के साधक को यह एकाग्रता सहज में ही प्राप्त हो सकती है और वह शक्ति पुञ्ज के रूप में परिणित होकर उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों का आगार ही बन जाता है।

इस पुस्तक में नाद योग के गुप्त विधि विधान को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया है।

—चमनलाल गौतम

नाद योग की

विषय-सूची

नाद योग

संगीत की स्वर लहरी के सूक्ष्म प्रभाव

नाद का अर्थ है ध्वनि। घोष और शब्द भी उसी के पर्याय हैं। शब्द अथवा नाद एक है और वह विभिन्न अनुभूतियों के साथ अनेक रूप हो जाता हैं। देखते है कि कोई नदी अपने उद्गम स्थान से अकेली चलती है, किन्तु मार्ग में उसकी अनेकों शाखा-प्रशाखाएं हो जाती हैं। तथा अपने अन्तिम स्थान समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते वह नहर, नाले के रूप में अनेक रूप धारण कर लेती है।

इसी प्रकार नाद भी एक है, उसमें अनेकत्व का आभास भौतिक विधाओं की अभिन्नता के कारण होता है। अनेक विद्वान नाद के दो मुख्य भेद मानते हैं—(१) दिव्य, और (२) भौतिक। दिव्य नाद को अनहद नाद भी कहते हैं। वह अविनाशी है, सदा से चला आया है और सदैव रहेगा। वह कभी नहीं मिटता तथा प्रत्येक पदार्थ में स्थित रहता है। पंच भौतिक जगत् के पाँचों भूतों में उसकी अनिवार्य विद्यमानता है। प्रत्येक वस्तु के कण-कण में वह व्याप्त है। समस्त शरीरों में नाद का अस्तित्व है। अभिप्राय यह है कि दिव्य नाद चेतन और अचेतन सभी में स्थित है।

भौतिक नाद विभिन्न शब्द ध्वनियों के रूप में प्रत्यक्ष सुनाई देता है। हँसने, गाने, रोने, चलने, बोलने आदि में जो शब्द निकलता है, वह भौतिक ही है। बाजे के स्वर, किसी धातु के उठाने, रखने, गिरने का शब्द गाड़ी आदि के चलने की आवाज आदि सब भौतिक नाद में आते हैं। किन्तु यह नाद भी ब्रह्म सम्बन्धी उसी सर्वव्यापक दिव्य नाद के ही अंशभूत हैं।

यद्यपि दिव्य नाद बाह्य जगत् में भी सदैव गूंजता रहता है, किन्तु हम उसे अभ्यस्त रहने के कारण सुन नहीं पाते। उसका एक कारण बाहर अनेक प्रकार की ध्वनियों का होते रहना भी है। यदि हम बाह्य ध्वनियों की ओर से अपना ध्यान हटाकर उसे दिव्य ध्वनि में लगा दें तो सहज में ही उसे सुन सकते हैं।

हम देखते हैं कि किसी प्रकार कानों को बन्द कर लेने पर हमें एक प्रकार की विचित्र ध्वनि सुनाई देती है। आरम्भ में वह बहुत ध्यान देने पर ही सुनी जा सकती है। गुरु कृपा से अभ्यास होने पर उस ध्वनि को स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है।

नाद में उल्लास है, उसी में रस की वह आनन्दानुभूति है, जिसकी प्राप्ति कुछ विरले भाग्यवानों को ही हो सकती है। उसी में संगीत की स्वरधारा प्रवाहित रहती है। उस प्रकार की स्वरधारा निराश जीवन को भी आशावान बना देती और निष्प्राणों को भी प्राणवान बना देती है। अपवित्रता के आवरण को दूर करने में भी पूर्ण रूप से समर्थ है।

प्रातःकाल विभिन्न पुण्य स्थलों के प्रभाती या भैरवी गाने की प्रथा है। उसके विषय में मान्यता है कि इस प्रकार का प्रातःकालीन संगीत दूषित वातावरण को पवित्र बनाने में अत्यन्त प्रभावी होता है। इसी कारण अनेक व्यक्ति मिलकर प्रभात फेरी आदि के रूप में विभिन्न मुहल्लों या गाँवों में सोद्देश्य गाते हुए घूमते हैं।

इसी प्रकार सामूहिक रूप से संकीर्तन करने की भी प्रथा है। संकीर्तन में निकलने वाली संगीत लहरी भी वातावरण को स्वच्छ बनाती और सुनने वालों के तन-मन को प्रभावित करती है। उसमें खोये हुए मनुष्यों के मन तरंगित हो जाते हैं और शरीरों में स्पन्दन होने लगता है। यही स्पन्दन नृत्य की ओर प्रेरित करता है।

यदि बंगाली सन्तों को कृष्ण-नाम कीर्तन करते हुए देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि वे उस नाम-कीर्तन में इतने लीन हो जाते हैं कि बाह्य संसार का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। ऐसे अनेक सन्तों को कीर्तन करते-करते अचेतना की अवस्था उत्पन्न हो जाती है और वे चेतन ब्रह्म की रसानुभूति के आनन्द में निमग्न हो जाते हैं।

सामूहिक संगीत के विषय में अनेक चिकित्सा विशेषज्ञों तथा वैज्ञानिकों का मत है कि 'अनेक व्यक्तियों के एक साथ गाने से उनका स्वर-प्रवाह आन्तरिक उल्लास के साथ मिल जाता है, जिससे एक ऐसी तरंग-शृंखला की उत्पत्ति होती है, जो अपनी परिधि के समस्त वातावरण को ही उल्लसित बना देती है।

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि हम जब किसी कर्णप्रिय संगीत को सुनते हैं तब हमारा मन उसके आकर्षण में उधर ही खिंच जाता है तथा संगीत की स्वर लहरी मन में जिस प्रकार के आह्लाद की उत्पत्ति कर देती है उसके प्रभाव से समूचा शरीर फड़क उठता और हाथ-पाँव नाचने लगते हैं।

एक यशस्वी संगीतज्ञ एनरिको कारूसो का कथन है कि 'मेरे कानों में जब भी कभी संगीत की स्वर लहरियाँ गु जन करती हैं, तब मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मेरी आत्म चेतना का अभिन्न सम्बन्ध किसी अदृश्य जीवनदायिनी शक्ति से हो गया है। उस समय मेरे शरीर की समस्त वेदना मिट जाती है तथा भूख, प्यास, निद्रा आदि की भी अनुभूति नहीं रहती। लगता है कि मन को विश्राम मिल गया तथा शरीर

हल्का हो गया है। इससे मैं समझता हूँ कि संसार में मनुष्य जाति के लिए संगीत से अधिक अन्य कोई वरदान नहीं हो सकता।'

एक बार ब्रिटेन में अद्भुत घटना घटी। कोई रोगी अस्पताल के आपरेशन थियेटर की ओर ले जाया जा रहा था क्योंकि उसका ऑपरेशन होना आवश्यक था। तभी बाहर से संगीत की मनोहर ध्वनि सुनाई दो जो किसी समीपस्थ मकान से आ रही थी। रोगी उस ध्वनि को सुनकर स्ट्रेचर से उठ भागा और अस्पताल से बाहर जाकर जिधर से वह ध्वनि आ रही थी, उस ओर भौंचक-सा देखने लगा कि संगीत कहाँ से आ रहा है। वस्तुतः उस संगीत का उसके शरीर और मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि रोग ही दब गया और ऑपरेशन की आवश्यकता भी न रही।

संगीत के प्रभाव को प्राचीन काल से ही स्वीकार किया जाता रहा है। उसके द्वारा मन की तन्मयता इतनी बढ़ सकती है। कि किसी प्रकार के साधारण ऑपरेशन आदि में रोगी का वह स्थान शून्य करना अपेक्षित नहीं होता। अमेरिका के कुछ दंतचिकित्सक तो दाँत उखाड़ते समय भी संगीत का प्रयोग करते हैं। वे विद्युत् वाद्य यन्त्र को बजा कर एक विशेष प्रकार की संगीत-तरगे उत्पन्न कर देते है कि रोगी का मन उसी में तन्मय हो जाता है और वह बिना किसी प्रकार का शून्य कारक इंजेक्शन लगाये ही रोगी का दाँत उखाड़ देते है। उस समय रोगी को कष्ट का आभास किंचित भी नहीं होता।

महिलाओं के प्रसव काल में भी संगीत का प्रयोग किया जाता है। संगीत की स्वर लहरी में जच्चा का मन इतना डूब जाता है कि उसे प्रसव वेदना का पता ही नहीं चलता। जब शिशु का जन्म हो जाता है, तब संगीत बंद करने पर ही उसे पता चलता है कि शिशु का जन्म हो गया।

संगीत एक प्रकार का यौगिक स्वास्थ्य-साधन है। अनेक व्यक्ति स्वस्थ रहने के लिये ही संगीत का अभ्यास करते हैं। क्योंकि उससे मन में जो उल्लास उत्पन्न होता है वह शरीर को भी स्वस्थ बनाये रखता है। मन और शरीर का ऐसा सम्बन्ध है कि उनमें से किसी एक के भी अस्वस्थ होने पर दूसरा भी स्वस्थ नहीं रह पाता।

स्वर लहरी की शक्ति शरीरस्थ समस्त अंगों की नस-नाड़ियों का शोधन कर देती है। मस्तिष्क के ज्ञान तन्तु सजग होकर एक प्रकार का उल्लास छोड़ने लगते हैं, जिससे कोई भी अवयव अस्वस्थ नहीं रह पाता क्योंकि उसका प्रभाव स्नायु मण्डल, नाड़ी संस्थान और विभिन्न वाहिनियों पर भी अनुकूल पड़ता है।

नाड़ी संस्थान जब उससे प्रभावित होता है, तब उसमें कुछ विशेष प्रकार की तरंगें उठती है, जिनके प्रभाव से चित्त भी अभिभूत हो जाता है। इसका प्रभाव हृदय फुस्फुस और स्वर यन्त्र पर भी पड़ता है, जिससे उनकी क्रियाशीलता बढ़ जाती है।

योगियों के मत में संगीतमय नाद एक विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रवेधन तक की समस्त क्रियाएं सम्पन्न की जा सकती है। योग ग्रन्थों में वर्णित नाद योग भी इसी का एक रूप है, जिसकी चर्चा कुछ आगे चलकर की जायगी।

अध्यात्मिक विकास में भी संगीत का योगदान कुछ कम नहीं है। अध्यात्मवेत्ता जब संगीत को अपनी साधना का अंग बना लेता है, तब उसे सूक्ष्म-सत्ता के स्पर्श की अनुभूति होने लगती है। इस प्रकार संगीत आध्यात्मिक प्रिया में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान करता है।

संगीत के सुनने से जितना लाभ होता है, उससे अधिक लाभ उसका स्वयं अभ्यास करने से हो सकता है। क्योंकि अभ्यास में एक प्रकार का शारीरिक व्यायाम भी हो जाता है, जिससे आमाशय और

आँखों की क्रियाशीलता बढ़ती है। साथ ही संगीत की स्वर लहरी चित्त के लिये प्रसन्नता प्रद होती है, जिससे मानसिक स्वास्थ्य की भी उपलब्धि हो जाती है। इस प्रकार संगीत के द्वारा तन मन दोनों को पवित्र और स्वस्थ बनाया जा सकता है।

संगीत की अनेक विधाएँ हैं, सभी अपनी-अपनी विशेषता से सम्पन्न। भगवान् की स्तुति गाते हैं तो मन में याचना का सहज भाव स्वतः उत्पन्न हो जाता है। भजन गाते हैं तो स्वर लहरी के साथ छन्दस्थ स्वर मन को उसी ओर बहा ले जाते हैं। आरती के साथ गायन-वादन होता है, तो भी चित्त उसी में डूब जाता है।

संस्कृत के श्लोकों और वेदों की ऋचाओं में भी एक विशेष प्रकार की तरंगें रहती हैं। सस्वर ऋचाओं की दिव्यता जब ब्रह्म सम्बन्धी यशोगान से योग करती है, तब चित्त भी एक प्रकार की अलौकिक अनुभूति में रम जाता है।

संगीत का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही पड़ता हो, ऐसा नहीं है। उससे समस्त प्राणी अभिभूति होते हैं। भगवान् कृष्ण ने जब महारास किया था, तब गोपियों, मनुष्यों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी, कीट-पतंग भी खिचे चले आये थे। वृक्ष झूमने लगे थे, यमुना में तरंगें बढ़ गईं थीं, चन्द्रमा अपनी गति भूल कर स्थिर हो गया था।

यदि इन बातों पर विश्वास न भी करें तो किसी समय किसी उत्कृष्ट संगीत-कार्यक्रम में जा बैठिये। यदि वहाँ हृदयग्राही संगीत होगा तो आपका चित्त उसी में डूब जायगा, बाह्य दुनिया की उसे खबर नहीं रहेगी।

सँपेरे की बीन पर झूमते हुए सर्प तो बहुतों ने देखे हैं। आज भी अनेक सँपेरे उन्हें अपनी बीन पर नचाते रहते हैं। बहेलियों की बीन के स्वर सुनकर हिरण उसके पास आने में नहीं डरते। गायें भी संगीत

के स्वरों में ऐसी डूब जाती हैं कि उनका दूध काढ़ने पर उसका प्रतिशत बढ़ जाता है।

जिस कार्य से चित्त में हर्ष उत्पन्न होता हो, वह कार्य निश्चय ही स्वास्थ्यप्रद होना चाहिये। हर्षित चित्त ही परमात्मा की भक्ति में अनन्य भाव से लग सकता है। शरीर में किसी प्रकार का आलस्य या रोग हो तो मन भी रोगी हो जाता है और वह प्रभुचिन्तन की ओर तत्पर नहीं होता। संगीत के प्रभाव से वे सभी बाधाएँ दूर की जा सकती हैं। मुंशी प्रेमचन्द ने कहा है कि मनोव्यथा असह्य एवं अपार हो जाती है, जब उसे कहीं त्राण नहीं मिलता और वह सदन-कुन्दन की गोद में भी आश्रय नहीं पाती तो संगीत के चरणों में जा गिरती है।

मोटे तौर पर संगीत मनोरंजन का ही एक साधन समझा जाता है किन्तु बात उससे बहुत कुछ ऊंची है। संगीत में जो अद्भुत शक्ति है उसका ज्ञान समय की दौड़ के साथ भागते हुए लोगों को नहीं रहा है। आधुनिक वातावरण नितान्त भौतिक है उसमें विश्वसनीय कुछ भी नहीं समझा जाता।

लोगों को जब ईश्वर पर ही विश्वास नहीं तो संगीत पर ही कैसे हो सकता है ? यह कोई किम्वदन्ती नहीं कि दीपक राग से बुझे दीपक जल जाते हैं और मेघराग गाने से वर्षा हो जाती है। आज भी ऐसे संगीत-साधक संसार में विद्यमान हैं जो संगीत में निहित चमत्कारों को प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं।

संगीत के प्रभाव से मानसिक रोगियों के रोग दूर किये जा सकते हैं। पाश्चात्य देशों में इसका विशेष प्रबन्ध है कि मानसिक रोगियों को संगीत की तरंगों से प्रभावित किया जा सके। वहाँ के प्रायः सभी मानसिक अस्पतालों में इसकी व्यवस्था रहती है, और इसके द्वारा उन्हें शत-प्रतिशत सफलता मिलती रही है।

पूर्वी जर्मनी में तो मनुष्यों क्या, पशुओं पर भी संगीत की ध्वनियों के प्रयोग किये गये, जिससे यह निष्कर्ष निकला कि बीमार पशुओं को संगीत की ध्वनि-तरंगों के द्वारा ठीक किया जा सकता है। वहाँ के विशेषज्ञों ने बिना कोई औषधादि का प्रयोग किये, केवल संगीत के द्वारा ही बहुत से पशुओं को रोग-रहित कर दिया।

पेड़-पौधों पर भी संगीत का अद्भुत प्रभाव पड़ता है। इस बिषय में देश-विदेशों में अनेक परीक्षण किये जा चुके, जिनमें शत-प्रतिशत सफलता मिली। भारतवर्ष में ही अन्नामलय विश्वविद्यालय के वनस्पति शास्त्र के वैज्ञानिक डा० टी. सी. एन. सिंह ने संगीत की तरंगों से फसलों में आशाजनक वृद्धि की बात कही थी।

संगीत में वह शक्ति है, जिसके प्रभाव से कायर, डरपोक तथा कमजोर पुरुष भी अपनी हीनता छोड़कर उठ खड़ा हो सकता है। इस बात के भी परीक्षण किये जा रहे हैं कि संगीत के प्रभाव से शत्रु-पक्ष के लड़ाके वीर अपना साहस और उत्साह खो बैठें और कायरों की तरह मैदान छोड़कर भाग जांय।

पशु मनोविज्ञान के विशेषज्ञ डा० जार्जकेर वित्स ने छोटे जीव जन्तुओं पर संगीत के परीक्षण किये। उनका कथन था कि उन्होंने कई बार अत्यन्त उछल-कूद करने वाले चूहों को पियानो की मधुर ध्वनि में तन्मय होकर चुपचाप पड़े रहते देखा है।

पुर्तगाल के मछिहारों ने मछली पकड़ने का एक अद्भुत ढंग खोज लिया था। वे नावों पर बैठ कर अनेक वायलिन बजाया करते, जिनकी ध्वनि समुद्र में दूर-दूर तक फैल जाती और वहाँ-वहाँ की सील मछलियाँ उस ध्वनि की ओर चल देती। इस प्रकार नावों के चारों ओर बहुत-सी मछलियाँ एकत्र होकर वायलिन की मधुर ध्वनि सुनने में तन्मय रहती तो मछिहारे उन्हें सरलता से पकड़ लेते।

नार्वे के कीट-विशेषज्ञ डॉ० हडसन ने शहद की मक्खियों पर संगीत के प्रयोग किये, जिसका निष्कर्ष यह निकला कि वे मक्खियाँ अधिक मात्रा में शहद उत्पन्न करने लगीं। उनकी मान्यता रही है कि छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े भी संगीत से बहुत प्रभावित रहते हैं।

घरेलू कुत्ते भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। वे घर में होने वाली मधुर ध्वनियों को तन्मयता से सुनते हैं एक बार जार्ज ह्वस्वे ने अफ्रीका के कांगो प्रदेश में संगीत का प्रयोग चिपाँजी और गुरिल्ला वनमानुषों पर किया था, जिनसे सम्पर्क स्थापित करने में संगीतमय टेप-रेकार्डों का प्रयोग सफल रहा है। उक्त वैज्ञानिक ने अनेक वनमानुषों को अपना पालतू के समान बना लिया।

एक बार राजस्थान में एक ऐसी घटना घटी कि एक ग्रामवासी युवक ट्रांजिस्टर बजाता हुआ वन मार्ग से चला आ रहा था। उस समय उसमें से निकलते हुए संगीत की ध्वनि से मोहित हुआ एक सर्प उसके पीछे-पीछे बहुत दूर तक चलता रहा। जब युवक को उसका आभास तो वह डर के कारण ट्रांजिस्टर धरती पर डाल कर भाग खड़ा हुआ और दूर जाकर सर्प की प्रतिक्रिया का निरीक्षण करता रहा। उसने देखा कि जब तक ट्रांजिस्टर बजता रहा, तब तक सर्प उसके पास बैठा रहा तथा बन्द होने पर वह चला गया। इससे संगीत के उस प्रभाव के विषय में अच्छी जानकारी मिलती है, जो जीव-जन्तुओं को मोहित करने में समर्थ है।
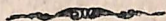
स्वर साधना से आत्मानन्द की सिद्धि

स्वर-साधना कोई साधना नहीं है। उसके द्वारा अनेक भौतिक कार्यों की सिद्धि होती और परमात्मा की भी प्राप्ति हो सकती है। आत्मानन्द की अनुभूति के लिये यह एक अनुपम साधन है। ऋग्वेद में कहा है—

अभि स्वरान्ति बह्वो मनीषियो राजा नमस्य भुवनस्य निंसते।

अर्थात् बहुत से मुनि-मनीषिगण समस्त भुवनों के स्वामी उस परमब्रह्म परमात्मा की ओर नमस्कार युक्त स्वर-साधना करते हुए, स्वर के द्वारा ही उसे प्राप्त करते हैं।

ऋग्वेद में ही अन्यत्र कहा है—

स्वरन्ति त्वा सुते नरो बसो निरेक उकिथनः।

अर्थात्—हे वत्स ! तुम अपने आत्मोत्थान के उद्देश्य से यहाँ आये हो। तुम यदि संगीतमय स्वरों में परमात्मा को पुकारोगे तो वह अवश्य प्राप्त होगा।

भगवान् स्वयं भी नाम-कीर्तन की महिमा को अधिक बताते हुए नारदजी से कहते हैं—

नाहं वसामि वैकुन्ठे योगिनां हृदये न बा।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

अर्थात्—हे नारद ! मैं न तो वैकुण्ठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदयों में ही। मैं तो वहीं रहता हूँ जहाँ भक्तजन मेरे गुण-कीर्तन में तन्मय रहते हैं।

संसार में सर्वत्र कोलाहल ही सुनाई देता है। कुछ संयत चित्त वालों की बात छोड़ दीजिये और सामान्य पुरुषों की ओर देखिये तो आपको मिलेगा कि चित्त उसी कोलाहल की ओर आकर्षित हो जाता है। वह कोलाहल विषयों की ओर तो घसीट कर ले जा सकता है, किन्तु परमात्मा की ओर ले जाने में समर्थ नहीं।

तो प्रश्न होता है कि परमात्मा की ओर जाना हो तो उस कोलाहल से कैसे बचा जाय ? यदि गम्भीरता से सोचें तो उत्तर मिलेगा कि कोलाहल को **दबा सकता है** तो संगीत ही। वस्तुतः परमात्मा की ओर से यह एक ऐसा वरदान मनुष्य जाति को मिला है, जिसकी समता अन्य कोई विद्या कर ही नहीं सकती।

पूजा-उपासना में भगवान् की स्तुतियाँ पद्यबद्ध इसलिए की गई हैं कि उनका प्रभाव वहाँ के वातावरण पर भी पड़े और सभी कुछ भगवान को समर्पित हो सके वैदिक काल में सस्वर ऋचाएं रची हुईं तथा सामवेद तो संगीत की प्रमुख निधि ही माना गया।

पौराणिक काल में भी पुराणादि ग्रन्थों की रचना छन्दों में ही हुई। पद्यबद्ध रचना के पढ़ने-सुनने में जैसा आनन्द आता है, वैसा गद्य में नहीं आता। इसी कारण भक्ति पूरक समस्त रचनाएं भी संगीत मय थीं। महर्षि नारद, बाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास, गौरांग महाप्रभु, मीरा, कबीर, जायसी, रसखान, भारतेन्दु प्रसाद, दाऊदयाल गुप्त प्रभृति कवियों ने काव्य-संगीतमयी वाणी में ही भगवान् के गुण-चरित्रों का वर्णन किया है।

इसका कारण स्पष्ट है—गायन बहुत प्रभावोत्पादक होता है। यदि उसके साथ सुमधुर ध्वनि वाले वाद्यों का योग भी रहे तो सोने में सुहागा ही समझिए क्योंकि इन दोनों के संयोग से दानव हृदय में आनन्दरस उमड़ने लगता है।

कुछ विद्वान् तो यहाँ तक मानते हैं कि किसी भी गीत का भावपूर्ण होना ही आवश्यक नहीं है, केवल अर्थ की स्पष्टता हो और ध्वनि का तारतम्य कर्णप्रिय हो तो वह भी प्राणियों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। प्रायः यह भी देखा जाता है कि रचनाओं में मात्राओं की कमी या अधिकता होने पर भी संगीतज्ञ उन्हें लघु या दीर्घ स्वर करके गा लेते और जन मानस को प्रभावित करने में सफल रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि लिखे हुए से अधिक महत्व स्वर का है। उसी स्वर का जिसे नाद कहते हैं।

संगीत के दो भेद प्रमुख हैं—गीत और वाद्य। संगीत का अभिप्राय उन रचनाओं से हैं जो गाई जा सकती हैं और वाद्य का तात्पर्य उन बाजों से है, जिनके बजाने पर मधुर स्वर निकल सकते हों। परन्तु यह आवश्यक है कि वे बाजे किन्हीं निश्चित रागों (ध्वनियों) में बजाए जाँय, जिससे उनका प्रभाव वातावरण को सम्मोहित कर सके। संगीत रत्नाकर कार ने नाद को ब्रह्म की संज्ञा देते हुए कहा है—

चैतन्य सर्व भूतानां विवृतों जगदात्मना।
नादो ब्रह्म तदानन्दंमन्दिलीयमुमास्महे॥

अर्थात्—नाद ही विश्व का आत्मा है और वह समस्त प्राणियों में चैतन्य और आनन्दमय रूप से निवास करता है। उस नाद की उपासना से ही ब्रह्म की उपासना सिद्ध हो जाती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म सत्ता नाद रूप में भी सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिए योगिजनों ने नाद में चित्त लगाना अत्यन्त श्रेयस्कर माना है। योगतारावली के अनुसार—

सर्व चिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योग साम्राज्य मिच्छता॥

अर्थात्—समस्त चिन्ताओं का त्याग करके सावधान चित्त से नाद साधना में अनुसन्धान करता हुआ ही योग रूप साम्राज्य की इच्छा करे।

'नाद' की उत्पत्ति भी कुछ सामान्य प्रकारसे नहीं है। संगीत-रत्नाकर ने कहा है—

नकारं प्राण नामानं दकारमनलं बिदुः।
ज्ञातः प्राणाभिसंयोगा तेनान्नाहेऽभिधीयते ॥

अर्थात्—प्राण का नाम नकार (ना) है और विद्वानों ने दकार (दा) को अग्नि कहा है। इस प्रकार प्राण और अग्नि का संयोग होने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वही 'नाद' कही जाती है।

नाद ही ज्ञान है। बिना नाद के ज्ञान नहीं हो सकता। सभी प्रकार की अनुभूतियों का केन्द्र भी नाद है। यदि नाद नहीं तो रूप भी नहीं हो सकता। योग तरंगिणि के अनुसार—

न नादेन बिना ज्ञानं न नादेन बिना शिबः।
नादरूपं परं ज्योतिर्नाद रूपोपरो हरिः ॥

अर्थात्—नाद के बिना ज्ञान नहीं हो सकता और न नाद के बिना कल्याण ही है क्योंकि नाद ही प्रकट होने पर परंज्योति रूप होता है और वही परब्रह्म परमात्मा है।

संगीत रत्नाकरकार ने नाद का विभाजन कानों से अनुभव में आने वाली श्रुतियों के भेद से बाईस श्रुतियों में किया है, जिनके नाम हैं—तीब्रा कुमहवाती, मन्दा, छन्दोवती, दयावती, मार्जिनी, क्षिति, रक्ता संदीपिनी. अलापिनी, मदन्ति राहिणी, रम्भा, उग्रा, और बाईसवीं क्षोभिणी।

उक्त श्रुतियों का आविर्भाव श्रवण द्वारा अनुभव की गई ध्वनियों के आधार पर हुआ है और उन्हें संगीत की सुविधा के उद्देश्य सात स्वरों में अन्तर्भावित कर दिया गया है। वे स्वर क्रमशः षडज, रिषव, गांधार मध्यम, पंचम धौवत और निषाध हैं, जिनका संक्षिप्त रूप क्रमशः स, रे,

ग, म, प, ध, नि, स है। षडज में तीव्रा, कुमहवाती, मन्दा और छन्दोवती का समावेश है, रिषव में दयावती, रंजिनी और रक्तिका का। राही और क्रोधा गान्धार में बड़निका, प्रसारिणी, प्रीति और मार्जिनी मध्यम में तथा क्षिति, रक्ता, संदीपिनी और अलापिनी पंचम स्वर में समाविष्ट है। धैवत में मदन्ति, रोहिणी और रम्भा का और निषाध में उग्रा तथा क्षोभिणी का अन्तर्भाव है।

प्रत्यक्ष देखते हैं कि कोई व्यक्ति कराह रहा है, तो उसकी आवाज से स्पष्ट ही प्रतीत हो जायगा कि वह पीड़ित है। कोई क्रोध या झुँझलाहट में बोलता है तो उसके स्वर भी अनजाने नहीं रह सकते। कोई हँसता है तो उसकी हँसी भी छिपती नहीं। अभिप्राय यह है कि मनुष्य के अन्तर्भाव उसकी वाक्-ध्वनि से ही प्रकट हो जाते हैं। इन्हीं सब भावों की दृष्टि से उक्त प्रकार का विभाजन किया गया है।

संगीत की साधना का मुख्य उद्देश्य ही परमात्मा की प्राप्ति है। साधक अपने अन्तर्भावों को विविध स्वरों में व्यक्त करके परमात्मा को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी ध्वनि को अधिकतम सरस एवं भावोत्पादक बनाये। उसमें भावों की जितनी ही अधिकता होगी, परमात्मा भी उतने ही अधिक प्रभावित होंगे।

संगीत का एक उद्देश्य मन को लय करना भी है। मन जितना अधिक लय को प्राप्त होगा, उतनी ही अधिक सिद्धि प्राप्त होगी मन को परमात्मा में लीन करने का संगीत (नाद एक अत्यन्त सरल और श्रेष्ठ साधन है।
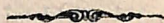
त्रिभेदात्मक विश्व और नादयोग

सृष्टि के तीन भेद प्रमुख हैं—आत्मिक, मानसिक और भौतिक इनके बिना विश्व का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। किन्तु यह तीनो भेद उसके भावों के अनुसार ही है और इन सबका उत्पत्तिकर्त्ता एक मात्र नाद ही है। नाद ही इसका पालन और लय करता है। अभिप्राय यह है कि यह सब नाद से ही प्रकट होता और उसी में समा जाता है।

स्वच्छ अवस्था में आत्मा केवल काश रूप अथवा प्रेम रूप है। प्रकाश और प्रेम में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं, एक ही वस्तु के दो पर्याय हैं और वे संसार में आत्मा रूप से प्रकट हुई है। सृष्टि का एक बहुत बड़ा छोर-रहित समुद्र है और आत्मा उसमें एक मछली के समान तैरती रहती है। यह कर्मक्षेत्र रूप विश्व वस्तुतः एक मुसाफिर खाने के समान है, यह आत्मा का घर नहीं है। उसका अपना घर तो नाद रूप समुद्र में है। उसी को ब्रह्म कहते हैं, वही नाद अथवा शब्द है।

कुछ मनस्वियों ने सृष्टि में विद्यमान तीन लोकों की समता आत्मा, मन और भौतिक बिश्व से की है। उनके अनुसार अत्यन्त महिमावत एवं परम चैतन्यभूत आत्मिक देश के ठीक नीचे ही मन के अनेकों सुन्दर लोक वसे हुए हैं। परमात्मा का वह धाम, मन के विश्व से ऊपर है, उसे परमात्मधाम या आत्मिक लोक भी कहते हैं।

जब आत्म इस ऊपरी लोक से नीचे उतरती है, तब वहाँ मन को साथ ले लेती है क्योंकि मन के बिना इन लोकों का कार्य नहीं चल सकता। उसे इस लोक में रहकर कार्य करने के लिए आवरित होना पड़ता है। बिना आवरण के शरीर नहीं बन सकता और शरीर के बिना

भौतिक जगत में किसी प्रकार की क्रिया का संचालन सम्भव नहीं है। इसीलिये आत्मा को यहाँ कारण और सूक्ष्म शरीरों का परिभान लपेटना आवश्यक होता है।

आत्मा ऊपर तो आवरण-रहित ही होनी है, किन्तु ज्यों-ज्यों वह नीचे की ओर उतरती जाती हैं, त्यो-त्यों उसे आबरणों का आश्रय लेना होता है। अन्त में मन और अन्यान्य शरीरों के साथ वह इस नीचे के लोक में आती है, तब उसकी व्यापकता सीमित होजाती है। उसे सांसारिक बन्धनों में रहना होता है, इसलिए उसकी लौकिक सीमा स्थूल शरीर है।

भौतिक विश्व में कार्य करने के लिये भौतिक शरीर की अपेक्षा होती है। परन्तु यह भौतिक शरीर तो दुःख-सुख का आश्रय स्थान है। इसके साथ दुःख और सुख दोनों का बोझ लदा रहता है। उस बोझ में दुःखों की ही अधिकता है, जिनके साथ आत्मा का सुदृढ़ लगाव हो जाता है क्योंकि उस वोझ में दुःख ही प्रवल रहते हैं, सुख तो मिथ्या है दिखावटी हैं, उनमें तथ्य नहीं। वे तो ऐसे हैं, जैसे नकली माल पर असली का लेबिल लगा दिया हो। क्योंकि सच्चा सुख तो परमात्मा की प्राप्ति में है। यह सांसारिक सुख तो भ्रान्ति मात्र ही है।

तो आत्मा इस संसार में आकर और स्थूल शरीर का आवरण धारण कर, दिखावटी सुखों और असली दुखों से बुरी तरह लद जाती है। उनके नीचे दवकर या उनमें ढँक कर आतमा अपनी यथार्थता को भूल जाती है, इसलिए मन ही उसका संचालक बन बैठता है। वह समझता है कि अब आत्मा तो अपने को भूल गई और इस शरीर रूप पिंजड़े में बन्द हो गई, इसलिए कुछ भी करने में असमर्थ है तो फिर मैं ही क्यों न इस आत्मायुक्त शरीर का स्वामी वन बैठूँ और इस प्रकार वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर लेता है।

किन्तु शरीर का स्वामी बनकर भी वह मन उन दुःखों को लदे देख कर चिन्तित और व्याकुल हो उठता है। अब वह उन बंधनों में बंधकर छटपटाता है, जो उसने शरीर के द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार कर लिये हैं। अब मन को अपनी सत्ता स्थापित रखने के लिये सांसारिक विषयों में दौड़ लगानी पड़ती है और आत्मा को विवश होकर उस दौड़ में सम्मिलित होना है।

सांसारिक विषय आत्मा को भ्रमित बना देते हैं और तब वह अपने स्वरूप को भूल जाती है। उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि यह मन और समस्त इन्द्रियाँ तथा विषय भ्रम रूप हैं, मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं मैं तो उस परब्रह्म परमेश्वर का ही अंश हूँ, इसलिये मैं ही सर्वोपरि हूँ, यह मन और विषय मेरे सामने कुछ भी नहीं हैं।

इस भौतिक विश्व में यद्यपि आत्मा के अस्तित्व को नहीं नकारा जा सकता, तो भी यह मानना होगा कि जीवन सम्बन्धी शासन मन के ही हाथ में है। वह जब जिधर चाहे शरीर और मन को ले जा सकता है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इसी तथ्य को जानकर शरीर को रथ की और मन को रथी संज्ञा दी है। सभी जानते हैं कि रथी जिधर चाहे उधर ही रथ को हाँक कर ले जा सकता है।

अब यह मन का ही कार्य है जो आत्मा के उत्थान में बाधा उपस्थित करता है। उसी ने आत्मा को शरीर रूपी कारागार में बन्दी बना लिया है। वही आत्मा को पुनः ऊपर के लोक में, अपने ही वास्तविक निवास स्थान में जाने से रोके हुए है। उसने उसके मार्ग में विषय रूप माया की स्वर्णिम दीवार खड़ी कर दी है, जिससे वह उस मार्ग पर जा ही नहीं पाती।

उसका कारण बहुत स्पष्ट है—जब आत्मा चेतन लोक से नीचे की ओर बढ़ती है, तो उसे अपने कर्मक्षेत्र में जाने के लिये मन को साथ

लेना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो शरीर का संचालन कौन करेगा ? क्योंकि आत्मा तो क्रिया रहित और नि:संग है, वह मन, इन्द्रिय और शरीर के आवरण में छिपकर नाद ब्रह्म से अपना सम्बंध तोड़ बैठी। अब प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि ऐसा क्यों होता है ?

और इसका उत्तर स्पष्ट है—परमात्मा की इच्छा से ही आत्मा को इन अवस्थाओं का वरण करना होता है। संसार कर्मक्षेत्र है यहाँ आने वाली आत्माओं को कर्म करना ही होगा, वे निष्क्रिय बैठ नहीं सकतीं और कर्म करती हैं तो उनका फल भी प्राप्त करना होगा, क्योंकि कर्म का फल अवश्यंभावी है। संसार में कर्म तो करना होगा, वह हमारी अपनी इच्छा पर निर्भर है कि कैसा कर्म करें, किन्तु फल-प्रदान परमात्मा की इच्छा से ही होता है। यथा—'कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन, (गीता) अर्थात्—'तुझे कर्म का तो अधिकार है, किन्तु फल का किंचित् अधिकार नहीं है।

इस प्रकार संसार में आकर जो कर्म किया गया, उसका भोग करने के लिये आत्माओं को यहाँ पुन: पुन: विविध योनियों में आना होता है। और सब परमात्मा की इच्छा के बिना सम्भव नहीं। उसी की इच्छा से आत्मा को मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है, जिसे पाकर उसे धन्य हो जाना चाहिये। किन्तु अधिकांश आत्माएँ विषयों के आकर्षण में और वैभव की भूल भुलैया में अपने उत्कर्ष की बात भूल जाती है। इसीलिये उन्हें बार-बार जन्म-मरण रूप महादु:ख भोगना होता है।

परन्तु, यही वह योनि है, जिसमें परमात्मा से मिलने का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अन्य योनियों में तो आत्मा जड़ के समान बुद्धिहीन बनी रहती है, इसलिये कुछ सोच ही नहीं सकती। उनमें शरीर की रचना भी इस प्रकार की होती है कि कार्यक्षमता का भी अभाव रहता

है। इसलिये यदि इस योनि में आकर हम आत्मोत्थान की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न करें तो बहुत कुछ सफल हो सकते हैं।

अनेकों मनीषियों, ऋषि-मुनियों तथा सन्त पुरुषों ने मनुष्य शरीर में किये जा सकने वाले ईश्वर-प्राप्ति के साधनों को समझा और उसके अनुसार अपने श्रेय-साधन में लगे रहकर संसार-सागर से तर गये। अनेकों नाद योगियों ने नाद की साधना के द्वारा ही नादब्रह्म को प्राप्त कर लिया। उनके पद चिन्हों पर चलकर कोई भी उत्थान का इच्छुक मनुष्य अपने को पुनः परमात्मा की शरण में ले जा सकता है।

वस्तुतः शरीर, मन और आत्मा, तीनों का ही परस्पर में किसी प्रकार की समानता नहीं है। इन तीनों के ही धर्म पृथक् पृथक् हैं। जड़ और चेतन के भेद को केवल वही मनुष्य नहीं समझ पाते जो देहाध्यास के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को जानना ही नहीं चाहते। वे शरीर को ही आत्मा मान कर आत्मा की वास्तविक सत्ता तक को मानने में आनाकानी करते हैं।

आत्मा स्वयं प्रकाश है, वह ज्ञान रूप भी है, चेतन होने के कारण अमर भी है। सभी जानते हैं कि जो पदार्थ अचेतन (जड़) है वह कोई भी हो, नाशवान है और जो नाशवान है, वह चेतन के साथ जुड़ नहीं सकता। तब जड़ और चेतन का मेल ही कैसे हो सकता है। निर्लिप्त आत्मा शरीर में रहती तो अवश्य है, किन्तु उसके साथ लिप्त किसी भी प्रकार नहीं होती।

इससे स्पष्ट है कि शरीर और आत्मा का परस्पर में कोई मेल नहीं है। शरीर मर जाता और आत्मा अपने अगले स्थान की ओर बढ़ती है। यदि इस शरीर में अच्छे काम किये जाते हैं तो आत्मा को धीरे धीरे अपने स्वरूप का ज्ञान होने लगता है। किन्तु यह लाभ अन्य किसी योनि में नहीं उठाया जा सकता। इसलिये हमें अपने स्वरूप का ज्ञान

पाने के लिये उन साधनों को अपनाना चाहिये, जिनके द्वारा सर्व शक्ति मान परम पिता की प्राप्ति हो सके। नाद योगी सभी साधनों में सर्व-श्रेष्ठ साधन नाद योग को ही मानते हैं।

—०—

ईश्वर का मन्दिर : शरीर—

वस्तुत: नाद योग एक विज्ञान हैं, उसमें ज्ञान का भी अन्तर्भाव हैं। यह मान्यता अनुपयुक्त नहीं कि जहाँ ज्ञान है वहीं विज्ञान हो सकता हैं, क्योंकि विज्ञान ज्ञान से भिन्न नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों के लिये प्रयोगशालाएँ बनाई हुई है, उनके बिना विज्ञान का अध्ययन और अभ्यास नहीं हो सकता।

परन्तु ब्रह्म-विज्ञान के अध्ययन और प्रयोग के लिये किसी विशेष प्रयोगशाला की आवश्यकता नहीं है। उसके लिये तो परमात्मा ने ही समस्त सुविधाओं से युक्त एक विशेष प्रकार की प्रयोगशाला बना दी है। इसमें ब्रह्म-विज्ञान का अध्ययन, प्रयोग एवं साधना आदि सभी कुछ हो सकते हैं। आप सोचेंगे कि वह प्रयोगशाला कौन-सी है, जिसमें यह सभी कार्य सहज ही सिद्ध हो सकते हैं ?

वह है हमारा यह शरीर, जिसे अध्यासवश हम अपना कहते है। इसी शरीर में परमात्मा की अंशभूत आत्मा विराजमान है, जिसकी उपासना करने पर ईश्वर की उपासना स्वत: सिद्ध हो जाती है यह मनुष्य शरीर वैज्ञानिक प्रयोगशाला भी है और मन्दिर भी। यदि देखें

तो सच्चा मन्दिर यही है। पाषाण-निर्मित मन्दिर-आदि यद्यपि ईश्वर की उपासना के लिये पवित्र स्थान माने जाते हैं, तो भी क्या वहाँ उपासना ठीक प्रकार से हो सकती है ?

उपासना तब तक सफल नहीं होती, जब तक मन की चंचलता रहती है। मन्दिर आदि में भीड़ हो-हल्ला प्रभृति व्यवधानों के कारण मन स्थिर नहीं रह सकता। फिर, लोग उन्हीं मन्दिरों में जाना चाहते हैं, जिनमें अधिक आडम्बर के कारण भीड़भाड़ भी अधिक होती हो। छोटे मन्दिरों में, जहाँ आडम्बर का अभाव है, कोई जाना ही नहीं चाहता। उस प्रकार के मन्दिर प्रायः उपेक्षित पड़े रहते हैं, जिनका उपयोग प्रायः पुजारी या मन्दिर के मालिक अपने रहने के लिये करते हैं। यदि देखा जाय तो वे कहने भर के लिये मन्दिर हैं, यथार्थ में तो निवास स्थान ही है।

मन्दिरों में उपासना, पूजा, दर्शन आदि के लिये प्रायः वे ही लोग जाते हैं, जिनके आन्तरिक नेत्र मुँदे हुए हैं और जिन्हें यह ज्ञान नहीं है कि परमात्मा अन्यत्र नहीं, हमारे भीतर ही बैठा है। कुछ वे लोग हैं जो केवल चहलकदमी के अथवा पारस्परिक दर्शन-मेला के उद्देश्य से मन्दिरादि में जाते हैं। किन्तु विश्वास कीजिये कि वे लोग सच्चे उपासक प्रायः नहीं ही हैं। उन्हें तो मन्दिर में जाने भर के नित्य-नियम का निर्वाह मात्र करना है।

परन्तु, जिनके आन्तरिक नेत्र खुल चुके हैं, जिन्हें ज्ञान हो गया है कि हमारे भीतर ही ईश्वर विराजमान है, वे पाषाण-मन्दिर में न जाकर शरीर रूप सच्चे मन्दिर में ही अपने भगवान की खोज करने लगता है। अनेक विद्वानों, योगियों, सन्तपुरुषों ने अपने भीतर विराजमान परमात्मा की ही उपासना की और उसकी प्राप्ति में सफल हो गये। सभी धर्मों में ऐसे ज्ञानी पुरुष हुए हैं, जो अपने भीतर के ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हैं। गुरु नानकदेव कहते हैं।

उच्चे खासे महल दे देवे बाँग खुदाइ।

सुने बांग न सूण सके रहि प्रा खुदा जगाइ।

अर्थात्—परमात्मा बाँग देकर जगा रहा है, किन्तु सभी उसकी बांग (आवाज) को नहीं सुन सकते जो सोये हुए पड़े हैं। (वस्तुतः भाग्यहीन मनुष्य उसे सुनने में समर्थ नहीं होते।)

गुरु नानकदेव का स्पष्ट कथन है कि हमारे भीतर से बार-बार आवाज आती है। परमात्मा चेतावनी देता है कि जागो और अपने कर्तव्य का सन्देश सुनो, किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह के बन्धन में फँसे हुए मनुष्य उस सन्देश को सुनने में पूर्ण रूप से अयोग्य हैं। सन्त तुलसी साहिब का कथन है—

नकली मन्दिर मस्जिदों में जाय सद अफसोस है।

कुदरती मस्जिद का साकिन दुःख उठाने के लिये।

अर्थात्—अत्यन्त खेद है कि प्राकृतिक मन्दिर-मन्दिर का निवासी मनुष्य दुःख उठाने के लिये मनुष्य निर्मित नकली मन्दिर-मस्जिदों में जाता है (जहां उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता।)

अभिप्राय स्पष्ट है कि मनुष्यों द्वारा बनाये गये पाषाणों के मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरजे आदि में उपासना के उद्देश्य से जाना व्यर्थ ही है। यदि आत्मोत्थान की आकांक्षा है तो इस प्राकृतिक मानव शरीर में विद्यमान परमात्मा की उपासना करो, उसकी आवाज सुनो। महाकवि श्री दाऊदयाल गुप्त कहते हैं—

तेरे भीतर दिव्य ध्वनि पंचम ज्ञानमय गूढ़।

अनहद बाजे बज रहे फिर भी सोता मूढ़।

अर्थात्—अरे मूर्ख मनुष्य ! तेरे भीतर परम ज्ञान युक्त और गूढ़ सन्देश देने वाले अनहद बाजे दिव्य ध्वनि में बज रहे हैं और फिर तू भी सो ही रहा है ? (जागता क्यों नहीं ?) पीपा साहब का कथन है—

जो ब्रह्मण्डे सोही पिण्डे, जो खोजे सो पाये।

अर्थात्—जो समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान है, वही पिण्ड में है (ब्रह्माण्ड और मनुष्य शरीर में कोई अन्तर नहीं है) किन्तु उसे पायेगा वही जो खोज करेगा।

भारतीय विद्वानों का ही यह मत रहा हो, वह बात नहीं है। पाश्चात्य विद्वान भी इसी का प्रतिपादन करते हैं। बाइबिल में भी कहा है 'तू स्वयं ही जीबित परमात्मा का मन्दिर है।' वस्तुतः यह कहना यथार्थ ही है, क्योंकि मनुष्य शरीर रूप मन्दिर में ही उस ईश्वर का निवास है जो जीवित अथवा चेतन है। सन्त पलटू साहिव कहते हैं-

साहब साहब क्या करे, साहब तेरे पास।

अर्थात्--अरे, (मूर्ख मनुष्य!) तू ईश्वर ईश्वर क्या कहता है? ईश्वर तो तेरे पास ही विद्यमान है।

सन्त कबीर ने तो इस तथ्य को और भी स्पष्ट शब्दो में कह दिया है-

ज्यों नैनन में पुतली त्यों खालिक घट माहिं।
मूरख लोग जाने नहीं बाहर ढूँढ़न जाहिं॥

जा कारन जग ढूंढिया सो तो घट के मांहि।
परदा दीया भरम का ताते सूझत नाहिं॥

अर्थात् - जैसे आँखों में पुनली विद्यमान है, वैसे ही ईश्वर हमारे हृदय में विराजमान है, किन्तु मूर्ख मनुष्य उसको वहाँ न जान कर बाहर खोजने के लिये जाते हैं। जिसकी खोज में संसार छान डाला, कहीं कोई स्थान नहीं छोड़ा, वह तो इसी शरीर में बैठा है। परन्तु भ्रम का जो पर्दा पड़ा हुआ है उसी के कारण दिखाई नहीं देता।

काम, क्रोध लोभ, मोह यह चार मानसिक विकृतियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। मनुष्य इन्हीं के कारण अपने ज्ञान को खोये हुए है और भ्रम में पड़ा है। बस वही पर्दा है आँखों के आगे। इसको हटाये बिना जो तथ्य है, वह तो समझ में आ नहीं सकता। महाकवि दाऊदयाल गुप्त का कथन है—

आपे में सब कुछ रहा, खोजन कित जाइ।
नैन आवरित भ्रमित मन, तो कस ब्रह्म लखाइ ।।

अर्थात्—अरे देख तो सही तेरी आंखों पर पर्दा पड़ा है और मन भ्रमित है, तो ब्रह्म कैसे दिखाई देगा ? यदि सच माने तो आपे में ही सब कुछ विद्यमान है तू खोजने के लिये किधर जा रहा है ?

गुरु नानकदेव ने तो इस तथ्य को और भी ठीक प्रकार से समझाते हुए कहा है—

सब कुछ घट महि बाहर नाहीं।
बाहर ढूंढें सो भरम भुलाही।
इस काया अन्दर जग जीवन दाताब से।
सभना करे प्रतिपाला।

अर्थात्—जो कुछ है, सब इस शरीर रूपी घड़े में ही है, बाहर नहीं है। जो लोग बाहर खोज करते हैं, वे भ्रम में भूल रहे हैं। संसार को जीवनदान देने वाला परमात्मा जो सभी का प्रतिपालक है, इसी शरीर में निवास किये हुए है।

सन्त तुलसी साहब ने अपने अमूल्य उपदेशों में इस प्रकार कहा है—

क्यों भटकता फिर रहा तू ऐ दिले बार में।
रास्ता शाहरग में है दिलबर पे जाने के लिये ।।

अर्थात्—उस परमप्रिय मित्र रूप परमात्मा की खोज में तू क्यों भटकता फिर रहा है ? उस मन के मीत के पास जाने का मार्ग भी प्रत्येक के भीतर ही है।

शरीर में ब्रहम का अंश भूत अविनाशी जीव विद्यमान है। तो उसके पास पहुँचने का मार्ग भी वहीं होगा, किसी अन्य स्थान पर तो हो नहीं सकता। किन्तु उस मार्ग जानने वाले ही जान सकते हैं, हर कोई नहीं जान सकता। महात्मा दादू दासजी का उपदेश है—

दादू जीव न जाने राम को राम जीव जीव के पास।
गुरु के शबद वह बाहिरा तातें फिर उदास॥
दूर कहे ते दूर राम रह्या भर।
ननहुं बिन सूझै नहीं ताते ह्वो कित दूर॥

अर्थात्—उस संसार के स्वामी परब्रहम परमातमा को जीव नहीं जानता, अन्यथा वह तो सदा ही जीव के पास रहता है। वह कहने भर के लिए दूर है किन्तु इतना व्यापक है कि सभी के पास सदा विद्यमान दिखाई दे सकता है। परन्तु वाह्य नेत्रों से दिखाई नहीं देता इसलिए कितनी भी दूर हो सकता है। दादूदास जी पुनः कहते हैं—

कोई दौड़े द्वारिका कोई काशो जाहिं।
कोई मथुरा को चलै साहिब घट ही माहिं॥
सब घट माही रम रहा बिरला बूझै कोय।
सो ही बूझै राम को जो राम सनही होय॥

अर्थात्—उसी सर्वब्यापक परमातमा की खोज में कोई द्वारिका के लिए दौड़ता है तो कोई काशी को, कोई मथुरा के लिए प्रस्थान करता है तो कोई अन्यत्र, परन्तु वह तो घट में हो बसा है, जिसकी खोज में धूमते फिरते हैं। वस्तुतः उस घट-घट बासी प्रभु को तो कोई बिरला ही पूछता है। यदि कोई पूछता है तो वही जो भगवान् का अत्यन्त प्रेमी है।

सांई बुल्लेशाह एक पहुँचे हुए फकीर हुए हैं, उन्होंने निष्पक्ष भाव से कितना स्पष्ट कहा है—

वेद कुरान पढ़ थके सिजदे करदिआँ घिस गए मत्थे ।
ना रब तीरथ ना रब मक्के जिन पाया तिन दिल विच यार ।

अर्थात्—अनेकों पण्डित और मौलवी वेद और कुरान पढ़ पढ़ कर हार गये, तथा प्रणाम और सिजदे करते-करते उनके माथे घिस गये, किन्तु किसी ने भी उस परमात्मा को मन्दिर, मस्जिद, तीर्थ अथवा मक्का आदि स्थानों में नहीं पाया। वह मित्र (परमात्मा) जिसे भी मिला हृदय में ही मिल सका।

सिख-गुरु अमरदास साहिब की वाणी भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है—

हरि मन्दिर एहु शरीर है गिआन रतन परगट होए।

अर्थात्—हमारा यह शरीर ही भगवान् का मन्दिर है, (और कोई मन्दिर सच्चा नहीं, क्योंकि उसी से उस विश्वात्मा प्रभु के ज्ञानरूपी रत्न प्रकट होते हैं।

महात्मा चरनदास जी इस तथ्य को अन्य प्रकार से सिद्ध करते हुए कहते हैं—

दूध मद्ध ज्यों घीव है मेंहदी माहीं रंग।
जतन बिना निकसे नहीं चरनदास लो ढंग।।
जो जाने या भेद को और करे परवेस।
सो अविनासी होत है छूटे सकल कलेस।

अर्थात्—जैसे दूध में घृत विद्यमान है, किन्तु वह तब तक दिखाई नहीं देता जब तक कि दही जमा कर मथानी से उसे मथ न लिया जाय। मेंहदी के पत्ते हरे होते हैं, किन्तु उनमें लाल रंग विद्यमान रहता है। वह भी तभी प्रकट होगा जब मेंहदी पीस ली जायगी। इस प्रकार यत्न किये बिना न तो घी निकल सकता है, न रंग। इस भेद को जो मनुष्य

जानकर उसके तथ्य में प्रविष्ट हो जाये, वह अवश्य ही सब सांसारिक क्लेशों से छुटकारा पाकर अविनाशीपद प्राप्त कर सकता है।

सन्त कबीर भी इसी प्रकार कहते हैं —

ज्यों तिल माहीं तेल है ज्यों चकमक में आग।
तेरा प्रीतम तुझमें जाग सके तो जाग॥

अर्थात्—जैसे तिलों में तैल बसा रहता है, किन्तु वह दिखाई नहीं देता, तभी दिखाई देगा, जब तिलों को घेर लिया जायगा। चकमक में भी जो आग या विद्युत है, वह ऊपर देखने में दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार तेरा प्रियतम भी तेरे भीतर विद्यमान है, किन्तु इसका तुझे पता ही नहीं है। अब तू जाग सकता हो तो जाग कर उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में लग जा।

परमपिता परमात्मा का सौंदर्य और प्रकाश ही समस्त संसार में जगमगा रहा है। ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ उसका प्रकाश न हो। सन्त कबीर दास का कथन है—

अव्वल अल्लह नूर उपाइया कुदरत के सब बन्दे।
एक नूर ते सभ जग उपजिया कौन भले को मन्दे॥

अर्थात्-सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य या प्रकाश तो परमात्मा का ही है, समस्त जीव उसी की आश्रिता प्रकृति के द्वारा रचे गये हैं। प्रकृति ने उस रचना में परमात्मा के ही सौन्दर्य के द्वारा समस्त संसार के प्राणियों की रचना की है, तब किसे अच्छा और किसे बुरा कहा जा सकता है।

और गुरु नानक देव ने भी इसी मत को व्यक्त करते हुए इस प्रकार कहा है—

जिअ जंत सभ तिस दे सभना का सोई।
मन्दा किसने आखीऐ जे दूजा होई॥

अर्थात्—संसार में जितने भी देहधारी उत्पन्न हुए हैं, वे सब उसी परमात्मा के हैं तथा वह परमात्मा भी सभी का है, तब मैं नीच अथवा

बुरा किसे कहूं ? क्योंकि नीच या बुरा तो वही हो सकता है जो कोई गैर हो। जब सब एक ही परमात्मा की सन्तान हैं तो सभी अपने हैं गैर तो कोई हो ही नहीं सकता।

संसार में आजकल जो साम्प्रदायिकता छायी हुई है वह व्यर्थ है, उसका कोई महत्व नही। परमात्मा एक है—कोई उसे भगवान् कहता है, कोई ब्रह्म, कोई राम अथबा कृष्ण, कोई मुकुन्द कहता है तो कोई माधव, कोई बाराह, कोई नृसिंह इस प्रकार हिन्दुओं में ही परमेश्वर के असंख्य नाम लिये जाते हैं। अन्य धर्मियों में खुदा, अल्लाह, गौड आदि भी उसी परमात्मा का सम्बोधन है तब कोई कुछ भी कहे, क्या फरक पड़ता है।

परन्तु इसी बात को लेकर लोग परस्पर झगड़ते हैं। सभी अपने अपने पक्ष पर अड़े रहते हैं, कोई भी झुकने को तैयार नहीं होता। बड़े-बड़े शास्त्रार्थ होते हैं, कभी कोई जीतता है तो कभी कोई, किन्तु निष्कर्ष कुछ भी नहीं निकलता। सन्त कबीरदास ने ऐसे अन्ध विश्वासी मनुष्यों को ही समझाने की दृष्टि से कहा है—

हिन्दू कहत हैं राम हमारा मुसलमान रहमान।
आपस में दौऊ लड़े मरत हैं मरम कोई न जाना॥

अर्थात्—हिन्दू कहते हैं कि हमारा राम है और मुसलमान रहमान को अपना बताते हैं। इसी बात पर दोनों परस्पर लड़ मरते हैं, किन्तु इसका मर्म कोई भी नहीं जानता।

और उपनिषद् भी इस तथ्य को अमान्य नहीं करते। अन्नपूर्णोपनिषद् का मत है—

व्यवहार मदं सर्य मा करोतु करोतु वा।
अकुर्वन् वाऽपि कुर्वन् वा जीवः स्वात्म रतिक्रियः॥

अर्थात्—इस सब सांसारिक व्यवहारों को करे चाहे न करे, उसी

प्रकार सब कुछ करता रहे या छोड़ दे किन्तु जीव को अपने आत्मा में स्मरण की क्रिया अवश्य करनी चाहिए।

ध्यानबिन्दुपनिषत् के अनुसार—

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः।
पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः॥

अर्थात्—जैसे तिलों में तैल रहता है और पुष्प में गन्ध रहती है, वैसे ही पुरुष शरीर के बाहर और भीतर (सर्वत्र) वह ब्रहम (परमात्मा) विद्यमान रहता है।

केनोपनिषत्कार ने इस विषय को और भी स्पष्ट कहते हुए निम्न प्रकार कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नः
चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यामाल्लोकाद्मृता भवन्ति॥

अर्थात् - यदि इस शरीर में ही परमात्मा को पहचान लिया तभी यथार्थ सुख है। किन्तु यदि इस शरीर के रहते हुए उसे न जान सका तो भारी विनाश ही है। ज्ञानीजन प्रत्येक प्राणी में परमात्मा को विद्यमान जानकर और इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं।

कठोपनिषत् में भी हृदयस्थ ब्रहम को जानकर उसकी उपासना का निर्देश दिया है—

तं दुर्दशं गूढ़मनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति

अर्थात— वह सनातन ब्रहम, दुर्लभ दर्शन, गूढ़, सर्व व्याप्त, हृदयरूप

गुफा में स्थिति है, उसे बुद्धिमान पुरुष आध्यात्मिक योग के द्वारा समझ कर हर्ष-शोकादि से मुक्त हो जाता है।

अध्यात्मोपनिषत् के अनुसार आत्मबुद्धि करे और समस्त जड़ पदार्थों का त्याग कर दे—

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्ति साक्षिणम्।
सोऽहमित्येव तदवृत्या स्वान्यत्रात्ममति त्यजेत्॥

अर्थात्—स्वयं को ही बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी-प्रत्यगात्मा जान कर 'वह मैं ही हूँ' ऐसी वृत्ति के द्वारा अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों से आत्मबुद्धि का त्याग कर देना चाहिए।

परमात्मा का निवास कहाँ है ? इस तथ्य का सुन्दर वर्णन महोपनिषत्कार ने इस प्रकार किया है-

पद्मकोशप्रतीकाश लम्बत्याकोश सन्निभम।
हृदय चाप्यघोमुखं संतग्तै सीत्काराभिश्च॥
तस्य मध्ये महानार्चविश्वार्चिविश्वतोमुखम्।
तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्तिथा॥
तस्या शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः।
स ब्रह्मा स ईषानः सोऽक्षरः परमः स्वराट॥

अर्थात्—जो भले प्रकार से पद्मकोश के समान लम्बायमान तथा अधोमुख हृदय है, उससे सीत्कार शब्द निकलता रहता है। उसी हृदय में एक ज्वाला प्रदीप्त है। वही ज्वाला दीपशिखा के समान दसों दिशाओं में प्रकाश को बांट कर विश्व को प्रकाशित करती है। उसी ज्वाला से कुछ ऊपर उठी हुई एक क्षीण वह्निशिखा है। उसी शिखा में परमात्मा निवास करते हैं वही परमात्मा ब्रह्मा, ईशान, इन्द्र, अविनाशी और परम स्वराट् हैं।

तेजोबिन्दूपनिषत् में संसार के समस्त गुणों को निरर्थक मानते हुए

आत्म सत्ता का ही प्रतिपादन किया है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है—

असदेव गुणं सर्वं सन्मात्रमहमेव हि।
स्वात्मसयं सदा पश्येत्स्वात्म मंनं सदाभ्यसेत्॥

अर्थात्—समस्त गुण असत्य (मिथ्या) हैं, केवल एक मेंही सत्य हूँ। इसलिये अपने आत्मरूप मंत्र का जप और उसी का सदा अभ्यास करते रहना चाहिये।

शरीर में जो आत्मा विद्यमान है, उसका धर्म काम, क्रोध, लोभ, मोह शोक, चिन्ता आदि कुछ भी नहीं है, वह तो इन सबके परे, केवल चिन्मात्र रूप से भासमान होने वाला है। संन्यासोपनिषत् का मत है—

निर्ममोऽमननः शान्ते गत पचेन्द्रिय भ्रमः।
युद्ध चेतन एवाहिं कला कलन वर्जितः।
चैत्य वर्जितः चिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः॥

अर्थात्—इस प्रकार में पाँचों इन्द्रियों के भ्रम से रहित, ममत्व हीन, मनन-हीन, शान्त स्वरूप, कला और मल आदि से रहित, युद्ध चैतन्यमात्र हूँ। मैं चैत्य से भी परे, चिन्मात्र प्रकाश वाला हूँ।

आत्मा सत् चित् आनन्द रूप है, उसे यह तीनों धर्म सहज रूप में परमात्मा से ही प्राप्त हुए हैं, किन्तु आत्मा का आनन्द गुण शरीर में आने पर भ्रम का पर्दा पड़ने से छिप जाता है। आत्मबोधोपनिषत् की मान्यता हैं—

शुद्धोऽहसान्तरोऽहं शाश्वत विज्ञान समरसात्माऽहम्।
शोधित परतत्त्वोऽहं बोधानन्दक मूर्तिरेवाहम्॥

अर्थात्—मैं शुद्ध हूँ, मैं अन्तरात्मा हूँ, मैं सनातन विज्ञान का सम्पूर्ण रस रूप हूँ मैंने परम तत्व आत्मा का शोधन किया है। तथा ज्ञान और आनन्द की एक मूर्ति भी मैं हूँ।
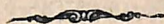
प्रभु मन्दिर में कैसे प्रवेश करें ?

हम बता चुके हैं कि हमारा यह शरीर ही परमात्मा की पूजा का एक सर्वोत्कृष्ट स्थान है क्योंकि उसी में परमात्मा की अंश भूत, सत्-चित्त आनन्द वाली आत्मा निवास करती है। इसलिए हमें इसी मन्दिर में प्रविष्ट होकर आत्मा रूप सच्चे परब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

किन्तु प्रश्न यह है कि परमात्मा के इस मन्दिर में हम प्रवेश किस प्रकार करें ? बड़े-बड़े सन्त, महात्मा, ज्ञानी पुरुष इसमें प्रवेश पाने के लिये अभ्यास करते रहे हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि अभ्यास से सभी कुछ सम्भव है। इसलिए मन्दिर में प्रविष्ट होने के लिए अभ्यास करना आवश्यक होगा।

और यह कोई असम्भव बात नहीं है कोई भी व्यक्ति किसी भी विषय विशेष का अभ्यास कर उसमें सफल हो सकता है। न जाने ऋषि-मुनियों ने अभ्यास के द्वारा ही आत्मा को प्राप्त कराने वाली एक विद्या (आत्म विद्या) है और लाखों वर्षों से शिष्य परम्परा द्वारा गुरुजनों से प्राप्त होती रही है। आज भी ऐसे आत्मज्ञानियों की कमी नहीं है, जो आत्मविद्या में पारङ्गत और अन्य व्यक्तियों को उसकी शिक्षा देने में समर्थ हैं। किन्तु ऐसे सद्गुरु सहज में ही प्राप्त हो जाँय, यह कठिन ही है।

आडम्बर के वर्तमान युग में भले-बुरे की पहचान एक समस्या बन गई है। फिर भी प्रयत्न करने वालों के लिये सब कुछ साध्य है। जहाँ चाह वहाँ राह। प्राप्ति की सच्ची इच्छा अवश्य पूर्ण होती है–'जिन खोजा तिन पाइयाँ' वाली लोकोक्ति के अनुसार आशा और उत्साह के साथ खोजते रहो, किसी दिन कार्य-सिद्ध अवश्य होगी।

फिर भी जिस विषय की चर्चा की जा रही है, उस पर प्रकाश डाल देना भी अपेक्षित है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—मनन जन्य (थ्योरोटिकल) और अभ्यास जन्य (प्रेक्टिकल), यह दोनों ही एक-दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध रखते हैं। क्योंकि मनन के बिना अभ्यास अधूरा ही रहता है। किसी विद्या को जाने बिना कोई उसका अभ्यास करने लगे तो वह उसमें पूर्ण पारंगत नहीं हो सकता। इसी प्रकार बिना अभ्यास के मनन करने का परिणाम होता है।

इसलिये आवश्यकता इस बात की है, अभ्यास के साथ अथवा पहिले मनन जन्य (पुस्तक द्वारा प्राप्त होने वाले) ज्ञान को उतना अवश्य जानें जिससे कि सम्बन्धित ज्ञान किसी प्रकार रहस्य ही न बना रहे। अनेक बुद्धिमान मनुष्य तो अनेक ज्ञानों को पढ़ कर ही उसके विषय में बहुत बातें जान लेते हैं—तथा जो अपूर्णता रह जाती है, उसे स्वविवेक से अभ्यास के द्वारा पूर्ण पारंगत हो जाते हैं।

हमारे योगाचार्यों ने उपासना और योग के विभिन्न अंगों का निर्देश दिया है। अष्टांग योग के विद्वान् योग के आठ अंग मानते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि। सभी प्रकार की पूजा पद्धतियों में ध्यान का समावेश अवश्य मिलता है, क्योंकि ध्यान के बिना किसी भी प्रकार की उपासना में सफलता नहीं मिल सकती।

ध्यान परमात्मा की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है, वही समाधि के लिये किया जाने वाला पूर्ण प्रयत्न है। ध्यान की परिपक्वता होने पर समाधि स्वतः लग जाती है, इसलिये अनेक विद्वान् ध्यान को समाधि का ही पूर्वांग मानते हैं।

भगवान् की भक्ति में प्रभु-स्मरण का बड़ा भारी महत्व है। स्मरण करते-करते भी समाधि लग जाती है, इसलिये बहुत-से विद्वान् स्मरण

और ध्यान में कोई अन्तर नहीं मानते कोई भी दो क्रियाएँ हों वे नाम—भेद से एक प्रकार का ही परिणाम उपस्थित करें तो नाम-भेद को कोई महत्व नहीं दिया जा सकता।

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव स्मरण करना है। वह सदैव कुछ न कुछ सोचता रहता है। परन्तु उसके सोचने में भौतिकता रहती है, इसीलिये उसका मन साँसारिक विषयों की ओर दौड़ता है। यदि स्मरण की दिशा बदल दी जाय, उसे भौतिक विषयों से हटाकर परमात्मा में लगा दिया जाय तो आत्मा की प्राप्ति के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति सहज सम्भव है।

इसलिये सचेत हो जाओ और अपने मन को सांसारिक विषयों से हटाने का अभ्यास करो। योगिजन मन को सांसारिक विषयों से हटा कर अन्तर्मुखी करने को ही प्रत्याहार कहते हैं। यह प्रत्याहार ध्यान का पूर्व साधन है। यदि इसमें सफलता नहीं मिलती तो समाधि तो दूर की बात है, धारण और ध्यान की भी सिद्धि सम्भव नहीं है।

स्मरण या ध्यान योग के अभ्यासार्थ प्रातः कालीन सभी क्रियाओं से निवृत्त होकर एक श्रेष्ठ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठना चाहिये। दोनों नेत्र बन्द कर लिये जाँय अथवा दृष्टि भौंहों के बीच में टिका ली जाय। अनेक सिद्ध पुरुष दृष्टि को नाक के अगले भाग (नासाग्र) पर टिका लेने का भी निर्देश देते हैं। दोनों विधियाँ ठीक हैं, दृष्टि को चाहे भौंहों के मध्य टिकायें अथवा नासाग्र पर, समान फल-सिद्धि हो सकती है।

यदि योगमार्ग से अभ्यास करना चाहें तो प्राणायाम आदि का अभ्यास कर लेने से ध्यानादि में बड़ी सुविधा रहती है। आसन का अभ्यास इसलिये किया जाता है कि निश्चित समय तक बैठे रहने का स्वभाव वन सके। अनेक योगिजन मुद्राओं और बन्धों का भी अभ्यास करते हैं। हठ योग के यह सब साधन साधक को उत्तरोत्तर सफलता प्रदान करते हैं।

अनेक व्यक्तियों की मान्यता है कि हठयोग की अन्य क्रियाओं में पड़े रहना व्यर्थ है, उसमें कष्ट तो है ही, समय भी अधिक लगता है, इसलिये सीधे ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। अनेक व्यक्तियाँ केवल ध्यान योग के आश्रय से ही आत्म दर्शन प्राप्त करने में सफल रहे हैं।

और नाम-स्मरण तो उससे भी सरल साधन है। ध्यान योग में चंचल मन अधिक व्यवधान उपस्थित करता है, जबकि नाम-स्मरण में मन अधिकतर नाम की ओर लग जाता है। यदि साधक नाम-स्मरण की क्रिया में ही दृढ़ता प्राप्त कर ले तो समाधि की अवस्था में पहुँच सकता है।

नाम-स्मरण के प्रभाव से मन शुद्ध होने लगता है, उसकी वृत्तियाँ बाह्य विषयों को छोड़कर अन्तर्मुखी होने लगती है। इसके फल स्वरूप आत्मा भी उधर आकर्षित हुए बिना नहीं रहती है। जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचकर पकड़ लेता है, वैसे ही आत्मा भी मन को अपनी ओर खींचती है। मन आत्मा के लिये समर्पित होता है और आत्मा मन को ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार मन आत्मा में ही लीन होने लगता है।

स्मरण में दृढ़ता के फल स्वरूप आत्मा आज्ञाचक्र (भौंहों के मध्य भाग) में पहुँचने में अभ्यस्त हो सकती है। योगिजन जिस षट्चक्र वेधन वाली क्रिया में अभ्यास प्राप्त कर लेते हैं, वे सब कुछ करने में समर्थ हो जाते हैं हमारा योग-विज्ञान परकाया प्रवेश तक की क्रियात्मक शिक्षा देता है। अनेक प्राचीन योगी इस विद्या में पारंगत थे, यद्यपि आज यह एक गाथा मात्र रह गई है।

भौतिक शरीर से आत्मा भिन्न है, यह बात पहिले बता चुके हैं। आत्मा चाहे जब इस शरीर को छोड़कर अन्यत्र जा सकती है। यह आवश्यक नहीं कि शरीर का त्याग मृत्यु काल में हो, परकाया-विधि से मृत्यु से पहले भी वर्तमान शरीर को छोड़ा जा सकता है। संभवतः

इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए एक बार मौलाना रूम ने कहा था—
'इस शरीर (स्थूल शरीर) के अतिरिक्त तेरा अन्य शरीर (सूक्ष्म शरीर)
भी है, इसलिये इस जड़ शरीर से बाहर जाने में भयभीत न हो।'

मरना सभी को है, कोई पहिले तो कोई पीछे, क्योंकि यह भौतिक शरीर अमर कभी नहीं रह सकता। इसके सभी तत्व अपने-अपने सम्बन्धित समूह में जाकर मिलेंगे। जो लोग शरीर को अमर मानकर उसी में आतमा का भ्रम (अध्यास) किये हुए हैं, वे तो वैसे ही अपना सब कुछ भूले हुए हैं।

परन्तु विद्वान् वे हैं, जो मौत से डरते नहीं, वरन् हँस हँस कर उसका स्वागत करते हैं। वे जानते हैं कि मृत्यु इस शरीर का धर्म है, जिसे टाला नहीं जा सकता। अन्त में जाना ही पड़ेगा अपने धाम को तो फिर कभी भी चल दें यहाँ से, फर्क क्या पड़ता है। इसीलिये गुरु नानकदेव ने कहा था—

मुइया जितु घर जाइये, तितु जीव दिया मरु मारि।

अर्थात्—'मर कर जिस घर के लिये प्रस्थान करना है, वहाँ जीते जी ही चले जाओ।' कुरान शरीफ में भी कहा है—'मूतू कबलंत मूतू' यानी 'मरना है तो अपनी मौत से पूर्व मरो।' एक विद्वान् का कथन है—

न मरना बुरा है न जीना बुरा है।
बुरा है वही जो कहीं का न रक्खे॥

अर्थात्—मरना अथवा जीना बुरा है तो केवल वही, जो सब ओर से विनाश कर दे, कहीं भी कल्याण का मार्ग न रहने दे।

और सांसारिक विषय सभी ओर से विनाश करते हैं। विषयासक्त रहने के कारण शुभ कर्म हो नहीं पाते, जो भी अशुभ कर्म होते हैं उनका

फल भी अशुभ ही होता है, चाहे उनका भोग इस जन्म में। इससे स्पष्ट है कि बुरे करने वाले कर्मों में लिप्त विषय विनाशकारी ही हैं।

संसार में आकर कर्म करना अनिवार्य है, क्योंकि कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता और कर्म करेंगे तो उनका फल भी भोगना ही होगा। परन्तु हम कर्म करते हुए भी उनके फल का त्याग करते रहें, अर्थात् निष्काम कर्म करें, तो हमारा उत्कर्ष हो सकता है। इसी तथ्य पर विचार करते हुए अन्नपूर्णोपनिषत्कार ने कहा है —

महाकर्त्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ।
त्वस्वरूपानुसन्धानमेवं कृत्वा सुखी भव॥

अर्थात—हे निष्पाप ! तू महाकर्त्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बन और इस प्रकार अपने ही स्वरूप का अनुसन्धान करके सुखी हो जा।

सर्व त्याग का उपदेश करते हुए उपनिषत्कार पुनः उक्त विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं-

आत्मावलोकनार्थं तु तस्मात्सर्वं परित्जेयेत्।
सर्वं सन्त्यज्य दूरेण यच्छिष्टं तन्मयो भव॥

अर्थात— आत्मा दर्शन करने के लिये सभी कुछ त्याग देना चाहिये और सर्व त्याग के पश्चात जो कुछ शेष रहे उसी में तन्मय हो जाना चाहिये।

इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि विषयों को त्यागे बिना आत्मा-दर्शन होना असम्भव है। कर्म करो, किन्तु फल में अपना अधिकार न समझो (कर्मयेवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन) इस अर्थ भूत वाक्य में विश्वास करके शरीर और उसके लिये भौतिक सुख के साधनों का त्याग करो, इसी से कल्याण निहित है।

ऊपर से हाड़-मांस से निर्मित प्रतीत होने वाली इस देह में, हाड़-माँस के अतिरिक्त और भी बहुत-से पदार्थ भरे पड़े हैं। योगाचार्यों द्वारा बताई हुई कुण्डलिनी शक्ति और उसके द्वारा वेधने योग्य षट चक्र भी इसी शरीर में हैं, यहाँ तक कि स्वयं परमात्मा भी जीव रूप से इसी में बिराजमान है। वस्तुतः सच्चा परमात्मा तो शरीर में ही है, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा या गुरुदारा आदि स्थानों में नहीं।

मुमुक्षुओं के लिये इसका ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक धर्म के नाम पर फैली हुई विभिन्न भ्रान्तियों का निराकरण नहीं होता, तब तक मनुष्य अपनी मुक्ति का यथार्थ साधन करने में असमर्थ ही है। सन्त अमरदासजी का उपदेश है—

इस काइया अन्दर बसतु अनेका।
गुरुसुख साँच मिले ताँ वेखाँ॥
नौ दरवाजे दसवें मुकता।
अनहद सबद बजाबणिआँ॥

अर्थात्—इस काया में अनेकों वस्तु विद्यमान हैं, किन्तु वे तभी देखी या देखी या जाती जा सकती हैं, जब कोई सच्चा गुरु उनके विषय में बताये। शरीर के दो भाग हैं—एक आंखों से नीचे और दूसरा आँखों से ऊपर। निचले भाग में ही सांसारिक विषय भोगों से सन्तुष्टि में सहायक नौ द्वार स्थित हैं और साधारण मनुष्य उन्हीं नौ द्वारों से उपलब्ध होने वाले विषय भोगों में लीन रहा आता है। किन्तु जब तक आँखों से निकले भाग में हम रमे हुए हैं, तब तक उस दसवे मार्ग में (जो आँखों से ऊपर के भाग में हैं) पहुँच नहीं सकते और इस कारण मोक्ष प्राप्त करने में भी असमर्थ हैं। जब हम उन अनहद बाजों का शब्द ठीक प्रकार से सुन सकें तभी हम मुक्ति की प्राप्ति में सफल हो सकते हैं।

योगाचार्य भी मोक्ष का स्थान शरीर के ऊर्ध्व भाग को ही मानते हैं। शरीर में छः चक्र विद्यमान हैं, कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में सोई पड़ी रहती है। ज्ञानवान साधक जब अपने आचरण द्वारा उसे जगाने में सफल हो जाता है, तब वह शक्ति सर्व प्रथम मूलाधार चक्र का ही वेधन करती है। उसके बाद शरीरस्थ अन्य चार चक्रों का वेधन कर छठे आज्ञाचक्र को भी बींध कर अन्त में सहस्त्रार में शिव से जा मिलती है, वही मोक्ष का स्थान है।

आज्ञाचक्र भी आँखों के ऊपरी भागों में, भौंहों के बीच में, विद्यमान है। इसीलिये अनेक योगी पुरुष साधकों को भौंहों के मध्य भाग में परमात्मा के ध्यान का निर्देश करते हैं। उस ध्यान की सिद्धि होने पर ही आज्ञा चक्र का वेधन होता और मोक्ष की भी तभी प्राप्ति होती है। पलटू साहब का कथन है–

> उलटा कुआँ गयन में तिसमें जरै चिराग।
> तिसमें जर चिराग बिना रोगन बिन बाती।
> छः रुत बारह मास रहत जरता दिन राती।

अर्थात्–मानव शरीर उलटे कुँए के समान हैं, क्योंकि कुआँ तो ऊपर से खुले मुख का और नीचे से (पैंदे में) बन्द होता है। किन्तु शरीर रूपी इस कुएँ का मुख ऊपर तो है नहीं, स्पष्ट देखते हैं यह खोपड़ी पैंदे के ही समान है। उस उलटे कुएं का पैंदा आकाश की ओर है और उसके भीतर दीपक जल रहा है। कैसा दीपक है वह ? न तैल है, न बत्ती है, किन्तु ज्योति तो है ही, वह भी भौतिक नहीं, दिव्य ज्योति। वर्ष भर में छः ऋतु होती है, उन सभी में यह निरन्तर जलता रहता है अर्थात् इस दीप-ज्योति पर उन ऋतुओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। गर्मी, वर्षा, हवा, ठण्ड कुछ भी हो, उसका बुझना असम्भव है। वह तो तभी बुझेगा जब उसे इस शरीर का परित्याग करना होगा।

कबीर ने इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से कहा है-'दीवा बले अगम का, बिन बाती बिन तेल।' अगम (अगम्य) कोई जड़ वस्तु नहीं हो सकती, चैतन्य में ही यह शक्ति है कि उस तक किसी की पहूंच नहीं हो सकती। परमात्मा अगम्य है, उसका पार कोई विरले ही पाते हैं, अन्यथा अनेक जन्म-जन्मान्तरों में भी बड़े-बड़े योगी भी उसकी थाह पाने में असफल हो गये। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए कबीर ने कहा है कि शरीर के बिना बत्ती और तेल की जो ज्योति प्रकाशित है वह परमात्मा की ही दिव्य ज्योति है कोई सामान्य नहीं।

दीपक जलता है तो प्रकाश ही नहीं फैलता, उसमें से एक प्रकार का शब्द भी निकलता है। परन्तु मनुष्यों का ध्यान उसके प्रकाश में ही रहता है शब्द में नहीं। बस, वही भ्रान्ति है, प्रकाश या रूप को देखना किन्तु शब्द न सुनना। उस भ्रान्ति का निवारण ज्ञान से हो सकता है, क्योंकि ज्ञान में शब्द, अक्षर और प्रकाश तीनों ही एक साथ विद्यमान हैं। कविवर दाऊदयाल गुप्त कहते हैं—

अक्षर शब्द प्रकाश युय होइ लब्ध जब ज्ञान।
भरम आवरन द्रुत हटै यह अमरत्व विधान।।

अमरत्व की प्राप्ति तभी हो सकती है जब अक्षर क्या है ? शब्द क्या है ? प्रकाश क्या है ? इन प्रश्नों का समाधान हो जाय और मनुष्य ठीक प्रकार से समझ ले कि यह तीनों परमात्मा में ही सम्भव हैं तथा परमात्मा का अंशभूत होने के कारण जीवों में भी। किन्तु जीवों में यह पदार्थ कर्म-बन्धन रूप दृढ़ आवरण से ढके रहते हैं, इसलिये उन्हें उनका ज्ञान नहीं हो पाता। गुरु नानकदेव कहते हैं—

अन्तर जोत निरन्तर बानी
सच्चे साहब सिओं लिव लाई।

अर्थात्—प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में वह दिव्य ज्योति निरन्तर जलती चली आ रही है तथा उस ज्योति से अत्यन्त कोमल वाणी भी

निरन्तर निकल रही है। परन्तु उसे सुनने की सामर्थ्य उन्हीं में है जो साँसारिक मोह माया को त्याग कर परमात्मा से सच्चा प्रेम करते हैं

उक्त कथन में आडम्बरबाद का भी विरोध झलकता है। जो लोग आडम्बर परायण हैं वे परमात्मा से सच्चा प्रेम नहीं कर सकते, क्योंकि उन्हें तो अपने स्वार्थ की सिद्धि करनी है। बेचारे, परमात्मा के सच्चे भक्त कैसे बनें ? और उस स्थिति में मोक्ष भी कैसे सम्भव होगी ?

मोक्ष तो तभी सम्भव है जब मन में आडम्बर न रहे, उसकी चंचलता नष्ट हो जाय और वह बाह्य विषयों से विरत होकर प्रत्याहारी बन जाय। सरल अमरदास जी का उपदेश है—

गुरु गिआन अंजन सच नेत्रों पाइआ।
अन्तर चानन अगिआन अन्धेर गवाँइआ॥
जोती जोत मिली मन मानिआ।
हर दर सोभा पावणिआँ।

अर्थात्—सद्गुरु के ज्ञान और दीर्घ कालीन अनुभव के द्वारा उपलब्ध शब्द रूपी मर्म को जब हम अपनी आँखों में आँजते हैं, तब हमारे मार्ग से अज्ञान और अन्धकार नष्ट हो जाता तथा परमात्मा का सौंदर्य और प्रकाश दिखाई देने लगता है। इसलिए जब हम ज्योंति से उत्पन्न शब्द के साथ अपना ध्यान लगायेंगे तो हमें सर्वत्र दिव्य शोभा ही शोभा दिखाई देगी और ऐसा होने पर हमारा मन भी मान लेगा अर्थात् विषयों की ओर से हटकर परमात्मा के ध्यान में लगने लगेगा।

और अन्तर में जो शब्द निरन्तर उठ रहा है, उसकी पहिचान भी तभी हो सकती है जब हम उसके लिये चेष्टा करें। बिना प्रयत्न के न तो मन पर नियन्त्रण हो सकेगा और न ज्योति से निकलने वाले उस दिव्य शब्द की पहचान ही। आचार्यों ने साधना के विधानों का उपदेश भी इसीलिये किया है कि उसमें अभ्यास करते-करते लक्ष्य तक पहूंचा सके।

आन्तरिक शब्द को पहिचानने पर ही मोक्ष सम्भव है। गुरु अमरदास का कथन है—

जिन अन्तर सबद आप पछानहि ।
गति मिर्ति तिनहि पाई ।।

अर्थात्—जिन्होंने उस आन्तरिक शब्द को पहिचान लिया उसी को गति (मोक्ष) तथा परमात्मा से मित्रता (प्रीति) की प्राप्ति हो सकी, अन्य कोई गति और ईश्वर प्रेम को नहीं पा सका।

पहिचान की पहिचान। मोक्ष की प्राप्ति के लिये यह दोनोंही आवश्यक है। गुरु अमरदास ने दोनों के ही विषय में स्पष्ट कर दिया है—

सबदै जाने ताँ आप पछाने।

अर्थात्—पहिले तो शब्द की पहिचान करे और जब वह हो जाय तब अपने आपको पहिचाने। कोई सोचें कि शब्द को पहिचान लेने मात्र से ही काम पूरा हो गया तो यह भी एक भ्रम ही होगा। कार्य की पूर्ति तो स्वयं को पहिचान लेने पर ही होती है।

परन्तु शब्द की पहिचान तभी हो पाती है, जब मन का सब मैल धुल जाता है। उस समय चित्त-वृत्तियाँ बाह्य विषयों से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं तथा विषय-विकारों के आवरण स्वत: हट जाते हैं। योगिजन इसी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को प्रत्याहार कहते हैं।

और जो साधक प्रत्याहार का अभ्यास सिद्ध कर लेते हैं, वे उस अन्तर के शब्द को सरलता से सुन सकते हैं। परन्तु जिनका मन बाह्य विषयों में रमा है, उनकी बुद्धि भी कुण्ठित हो जाती है। संत तुलसी साहब का कथन है—

कुदरती काबे की तू महराब में सुन गौर से।
आरही धुर से सदा तेरे बुलाने के लिये।।

अर्थात्–प्राकृतिक कार्य की जो महराव है उसमें ध्यान लगा कर सुन तभी तुझे अनुभव होगा कि तेरे बुलाने के लिए आरम्भ से ही निरन्तर आवाज आ रही है।

सन्त-महात्माओं के पास अन्य कोई पूँजी तो है नहीं, बस पूँजी है तो शब्द की ही। गुरुनानक का कथन है–

नहर बानी पूंजी, सन्तन हथ राखो कुंजी।

अर्थात–अनहद वाणी का जो कोषागार है, उसकी कुंजी साधु-सन्तों के ही हाथ है। इसलिये उसके यथार्थ इसी माध्यम से प्रभु मन्दिर में प्रवेश करने की अनुमति मिलती है। अनुभव की दृष्टि से हमें वह ज्ञान सन्त चरणों में बैठकर सीखना चाहिये।
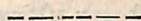
आत्म कल्याण के लिए मन का वशीकरण आवश्यक है

यदि आत्मिक कल्याण की इच्छा है तो मन का वश में किया जाना बहुत आवश्यक है। यह चंचल मन अत्यन्त वेगवंद है, क्षण में यहाँ और क्षण में लाखों किलोमीटर दूर। अभी दिल्ली में घूम रहा है तो अभी बम्बई की सैर कर रहा है। इसीलिए परमात्म-ज्ञान के मध्य कोई सशक्त तो वाधा है तो केवल यह मन ही है। आप बैठे हैं भजन करने परमात्मा

का और वह विषयों की ओर दौड़ रहा हो तो कैसे परमात्मा की प्राप्ति होगी ? महात्मा चरनदासजी का कहना है।

इन्द्रियन के बस मन रहे, मन के बस रहे बुद्धि।
कहो ध्यान कैसे लगे, ऐसा जहाँ विरुद्ध ॥

अर्थात्—इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि मन उन्हीं के वश में पड़ा रहता है, वहाँ से हटने को तैयार ही नहीं होता तथा बुद्धि उसी मन के वश में रहती है, इसलिए उसकी वृत्ति मन की बुद्धि के समान होना स्वाभाविक है। जब बुद्धि भी मन के समान और प्रभु-प्राप्ति के प्रतिकूल हो गई तब ध्यान का लगना ही कैसे सम्भव है।

हमारे उपनिषदों ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। मैत्रेयि-उपनिषद् का मत है–'मन के मैल का त्याग ही स्नान तथा मन और इन्द्रियों को वश में कर लेना ही पवित्रता है। शारीरिक मलों की शुद्धि मिट्टी, जल आदि से होती है, उसे लौकिक शुद्धि कहते हैं। वास्तविक शुद्धि तो मोह और अहङ्कार के त्याग से ही हो सकती है।'

मैत्रेयि-उपनिषद् में ही स्पष्ट कहा गया है–'तपस्या से ज्ञान की प्राप्ति होती और ज्ञान प्राप्त होने पर मन वश में होता है। जब मन वश में हो जाता है, तब आत्मा की प्राप्ति होने पर संसार से छुटकारा मिल पाता है।

वस्तुतः चित् शक्ति को मलों ने घेरा हुआ है और इसी कारण मनुष्य अपने उद्धार की बात नहीं सोच पाता। संन्यास उपनिषद् के अनुसार 'जो चित्-शक्ति, इच्छा-अनिच्छा युक्त जीवों में विद्यमान है, वह मलों से घिरी हुई है और इसीलिये बन्धन में बंधी चिड़िया के समान उड़ने में समर्थ नहीं होती। इच्छा और द्वेषजन्य द्वन्द्वभाव के कारण यह प्राणी मोह के वशीभूत होकर उन्हीं कीड़े-मकोड़ों के समान है, जो पृथिवी रूपी गर्त में पड़े हुए हैं।

वृहदारण्यक के अनुसार 'हृदय में विद्यमान कामनाओं के नष्ट होने पर यह मरणधर्मा मनुष्य ही अमृत होजाता और इसी शरीर में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

आकर्षण की प्रमुख धारा एक ही ओर हो सकती है। जीवन के दो लक्ष्य हैं—(१) तृष्णा और वासना युक्त भोग और (२) आत्म-दर्शन। इन दोनों में से एक को तो प्रमुखता देनी ही होगी। जो लोग प्रथम धारा में बह रहे हैं, वे आत्मा का दर्शन कभी नहीं कर सकते। इसलिये यदि प्रभु-प्राप्ति की इच्छा है तो मन को आत्मा की ओर आकर्षित करना होगा।

शाट्यायिनी उपनिषद में इसीलिए मन को वन्धन और मोक्ष का कारण वताते हुए कहा गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयो।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यः निर्विषयं स्मृतम् ॥

अर्थात् —मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का तथा जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।

नारदपरिब्राजकोपनिषद् में कहा है—'इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने के कारण अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि वे इन्द्रियाँ भले प्रकार वशीभूत हो जाँय तो अवश्य ही सिद्धिदायिनी हो सकती हैं। भोगों का उपयोग करने से विषयों की कामनाएँ कभी शान्त नहीं होती भोग तो घृत द्वारा अग्नि के अधिक प्रदीप्त होने समान ही उनकी वृद्धि करते हैं।

इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट है कि मन को बिभिन्न विषयों से हटा कर परम कल्याणकारी आत्मपथ पर अग्रसर करना ही अपेक्षित है। इसके लिये मन को पविव्र बनाना ही प्रथम उपाय है। जब तक मन को

पवित्र न बनाया जायगा आत्म-ज्ञान संभव नहीं है। उसकी सिद्धि में ही सकल सिद्धियाँ निहित हैं।

मन को वश में करने का उपाय—

अब प्रश्न यह है कि मन को किस प्रकार वश में किया जाय ? गुरु नानकदेव कहते हैं—

पाठ पढ़ियो अरु वेद बिचारिओ निवलि भुअंगम साधे।
परजना सिउं संग न छुटकिओ अधिक अहम बुधि बाधे॥
पिआरे इन विधि मिलन ना जाई मैं कीए करम अनेका॥

अर्थात्—मन को वश में करने के उपाय स्वरूप हमारे अनेकानेक ग्रन्थों के पाठ पढ़े और वेद-पुराण आदि के उपदेशों पर बहुत विचार किया, योगाचरण आसन प्राणायाम, षट्कर्म आदि अनेक यम-नियमों का भी पालन किया, कुण्डलिनी जागरण की क्रिया का भी आश्रय लिया, किन्तु पाँच दुष्टों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार) ने हमारा पीछा न छोड़ा। इस कारण मुझे प्रियतम के मिलन में बाधा उपस्थित हो गई।

गुरु नानकदेव मन को वश में करने का एक अच्छा उपाय बताते हैं—प्रभु-नाम-स्मरण। उसमें भी दिव्य शब्द की तरंगें उठती हैं, वे मन पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं—

सच्चे नाम सदा मन सच्चा।
सच सेवे दुख गवावणिआँ॥

अर्थात्—केवल सच्चा नाम स्मरण से ही मन पवित्र हो जाता है क्योंकि सच्ची उपासना ही समस्त दुःखों को दूर कर सकती है। इसलिये मन को वश में करने के लिये यही प्रयत्न करना चाहिए। गुरु नानक ही कहते हैं—

राम नाम मन बोधिआ अवर किह करी विचार।

अर्थात्—संसार के विषय भोगों के लिए एवं भटने वाला मन जब राम नाम रूपी शब्द बाण की परिधि में आता है, तब सदा के लिये बिंध जाता है। फिर मन को वश में करने के लिए और किसी उपाय को विचारने की क्या आवश्यकता है ?

परमात्मा के असंख्य नाम है राम, कृष्ण, गोविन्द, मुकुन्द विष्णु, नारायण, श्री हरि, ओम् आदि। इनमें से किसी भी नाम का स्मरण सरलता से किया जा सकता है। नाम जपते समय मन कहीं अन्यत्र भटकने लगे तो उसे फिर खींचकर जपने में लगाते रहो। यदि इस प्रकार के प्रयत्न में लग जाओगे तो वह कब तक उछलता-भागता रहेगा।

भौतिक जगत् में मन ही सर्व शक्तिशाली है, क्योंकि संसार का आधार मन ही है। इसी ने समस्त वैभव, माता-पिता, बन्धु, पत्नी, पुत्र आदि की रचना की है झोंपड़ी से लेकर बड़े-बड़े महल भी इसी ने खड़े किये हैं। यदि मन मर गया तो सभी विषय मर गये। उसका वश में हो जाना ही मरना है, क्योंकि वैसे तो वह आत्मा का सहकारी है। यद्यपि उसकी आत्मा के साथ ही है, तो भी आत्म अकर्त्ता होने के कारण उसके चंगुल में फँस गया है। इसलिये आत्मा के साथ मन की गाँठ बँध गई है।

प्रश्न यह है कि वह गाँठ कैसे खुले ? उसे खोलना विवेकी पुरुष जानते हैं। क्योंकि उन्होंने अपनी आत्मा के साथ मन की गाँठ को खोल दिया है। जो गाँठ मन ने आत्मा पर लगाई हुई थी, उसके खुल जाने पर आत्मा पुनः आवरण से बाहर हो गया। यहीं नहीं, अब वह मन उसके बन्धन में है। विवेकी पुरुष जिस प्रकार चाहें, मन का प्रयोग कर सकते हैं किन्तु मन उन पर हावी नहीं हो सकता।

एक कहावत है—'खाली मन, शैतान की दुकान। जब तक वह किसी ठोस कार्य में न लगा दिया जायगा, तब तक वह कुछ न कुछ करता ही रहेगा। वह कभी निष्क्रिय होकर बैठना नहीं जानते। अब

यह दूसरी बात है कि वह जो कुछ सोचें वह चाहे शुभ हो अथवा अशुभ। उसे शुभ या अशुभ से कोई मतलब नहीं।

मान लीजिये कि कोई सेवक है, वह आज्ञा में तभी तक तत्पर रहेगा, जब तक उसे कोई सेवा बतायी जाती रहेगी, उसके बाद वह चाहे जो कुछ करता रहे, स्वामी को क्या मतलब ? मन की भी यही स्थिति है, जब तक उसे अनुशासन में रखोगे और कार्य बताते रहोगे, तब तक वह उसी में लगा रहेगा और जहाँ थोड़ी-सीढील मिली और वह दौड़ा किसी भी ओर।

घोड़े को संकेतिक दिशा में चलाने के लिये लगाम का प्रयोग करना होता है। लगाम न रहने पर वह चाहे जिधर जा सकता है, वैसे ही मन की स्थिति है। उसे ढीला छोड़ा और वह दौड़ा उसकी दौड़ तभी रुकेगी जब पुनः लगाम खींचोगे।

मन का स्वभाव है कुछ न कुछ सोचते रहने का। उसका सोचना लम्बी छलाँग के रूप में भी हो सकता है और धीरे-धीरे भी उसे वश में करना सरल कार्य नहीं है, तो भी सावधान रहें तो उस पर अंकुश लगा सकते हैं। यह एक तथ्य है कि एकदम कुछ भी नहीं हो जाता, कोई भी कार्य धीरे-धीरे ही पूर्ण होता है। बड़े कार्य की पूर्ति देर में और छोटे की जल्दी हो जाय, यह बात दूसरी है, किन्तु प्रक्रिया तो दोनों की ही समान है। किसी हिलते हुए खम्भ को मजबूत करना हो तो उसके चारों ओर बन्धन लगाने होते हैं अथवा अन्य प्रकार से साधना होता है।

मन को भी बन्धन के द्वारा या अन्य किसी भी प्रकार साधा जा सकता है। परन्तु सधेगा अभ्यास से ही। यदि बीच में ही कोई कार्य अधूरा न छोड़ दिया जाय, वरन् निरन्तर किया जाता रहे तो कोई कारण नहीं कि वह पूरा न हो जाय।

प्रयत्न से सभी कुछ साध्य हो जाता है। मन के विषय में भी यह सिद्धान्त अमान्य नहीं हो सकता। किसी एकान्त स्थान पर बैठिये और मन को परमात्मा के नाम-स्मरण में लगा दीजिये। स्वभाव में चंचलता होने के कारण इस समय भी यह सम्भव है कि केवल जिह्वा तक ही वह नाम-स्मरण सीमित रह जाय और मन कुछ और ही स्मरण करने लगे, किन्तु ऐसा होते हुए भी यदि साधक सावधान है तो मन को यहाँ वहाँ से खींच-खींच कर नाम-स्मरण में लगाया रह सकता है। इसी को मन के साधने का अभ्यास कहते हैं।

यह अभ्यास आरम्भ में कुछ मिनटों तक सीमित रह सकता है। जितने मिनट निश्चित किये हों, उतने में मन को इधर-उधर कहीं भी न भटकने दो, यदि भटक भी जाय तो पुनः नाम-स्मरण में योजित कर दो, नित्यप्रति निश्चित अवधि तक अभ्यास करते हुए उसमें दृढ़ता लाओ और फिर धीरे धीरे अभ्यास की अवधि में वृद्धि करते रहो। इस प्रकार तुम्हारी सदा इच्छा की शक्ति मन को जिस ओर खींचेगी, उसी ओर परमात्मा के नाम की, शब्द की शक्ति भी मन का आकर्षण करेगी। दोनों शक्तियों का समान प्रयत्न अवश्य ही मन को वश में पूर्ण रूप से सहायक हो सकता है।

मृत्यु सत्य है, दुःखों का नाश करती है-

एक कहावत है—'आया है सो जायगा क्या राजा क्या रंक' क्योंकि जीवन भौतिक शरीर के साथ है और भौतिक शरीर नाशवान है, इस लिये उसका अमर रहना असम्भव है। शास्त्रकारों ने संसार को मर्त्य-लोक नाम इसीलिये दिया है कि यहाँ विद्यमान कोई भी वस्तु अमिट नहीं है।

सर्ग-काल से अब तक कोई भी तो ऐसा नहीं दिखाई देता जो अमर हो। हाँ दीर्घजीवी तो हो सकते हैं, किन्तु किसी दिन मरना उन्हें भी होगा। इस प्रकार मरना सभी को है, सदा कोई बैठा रहे यह सम्भव नहीं। अभिप्राय यह है कि मृत्यु सत्य है, अमिट है और आवश्यकीय भी।

शंका की जा सकती है कि मृत्यु आवश्यक क्यों है ? बड़ा सरल उत्तर है इसका—संसार में दुःख और सुख दोनों बने रहते हैं। वरन् यह एक तथ्य की बात हैं कि दुःखों की ही अधिकता रहती है। सांसारिक सुख भी दुःख रूप ही है, क्योंकि वे भी नाशवान हैं। अभी जो सुख है, कुछ समय बाद नष्ट हो सकता है। अनेक प्रकार के सुखों का परिणाम भी दुःख ही होता है। इससे स्पष्ट है कि जब तक मृत्यु नहीं होती, मनुष्य दुःख ही दुःख भोगता रहता है।

शरीर की चार अवस्थाएं प्रसिद्ध हैं—(१) बाल्यावस्था, (२) युवावस्था, (३) प्रोढ़ावस्था, और (५) वृद्धावस्था। इनमें से प्रथम अवस्था में मनुष्य शरीर का विकास होता है, दूसरी अवस्था में विकास

के पूर्ण होने पर क्षीणता का आरम्भ हो जाता है। विषय भोगों के कारण शरीर की र-सरक्त आदि धातुओं का क्षय होने लगता है और प्रौढ़ावस्था में शरीर के साथ विकास और ह्रास दोनों लगे रहते हैं। कभी शरीर पुष्ट होता दिखाई देता है तो कभी क्षीण और अन्त में वह क्षीणता निरन्तर चालू हो जाती है तथा उसी के साथ वृद्धावस्था आ घेरती है।

तात्पर्य यह है कि विकासावस्था के समाप्त होने पर जब शरीर की क्षयावस्था आने लगती है, तब से मनुष्य को अनेक परिवर्तनों का सामना करना पड़ता है। शक्ति का क्षीण होना। किसी प्रकार का रोग, कर्ण शूल, दन्त शूल, दन्तक्षय, सिर दर्द, चक्कर, केशश्वेतता आदि, जो कि सभी स्वाभाविक हैं और दुःख रूप भी। इससे यह मानना अतिशयोक्ति नहीं है कि मृत्यु सत्य है और वह मनुष्य के दुःखों को नष्ट कर देती है। इसलिये मृत्यु की आवश्यकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

और जब मृत्यु अनिवार्य ही है तो फिर उससे भय कैसा ? उसका तो स्वागत ही होना चाहिए, क्योंकि वह दुखों से छुड़ाती है फिर यदि कोई मृत्यु की बात सुन कर दुःख माने तब भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि दुःख मानने अथवा न चाहने से वह रुकेगी नही। जो प्रबल है उसे कोई निर्बल कैसे रोक सकता है ?

जब नहीं रोक सकता तो फिर उसके सुख-पूर्वक समापन का प्रयत्न क्यों न किया जाये। मृत्यु एक ऐसा यान है जो जीव को न जानें किस स्थान पर ले जाय अथवा कहाँ जाकर छोड़ दे। उस विषय में निश्चिन्त होने के लिए उचित उपाय किया जाना अवश्य ही कर्तव्य है।

वस्तुतः मनुष्य माया-मोह में ऐसा फँसा है कि अपने किसी प्रिय-जन के मरने पर व्याकुल और दुःखित होता है और उसके शव के साथ श्मशान में जाकर कुछ विरक्त-सा बन जाता है। उस समय इसकी बुद्धि में यह बात बैठती है कि संसार व्यर्थ है। किन्तु वहाँ से घर लौटने पर

और किसी प्रकार की वासनामय प्रवृत्ति बढ़ने पर वह उस श्मशान-वैराग्य को भूल जाता है।

परन्तु, वह भूलने की बात नहीं है, क्योंकि अपने शरीर का अन्त भी वही है। उससे तो यह सीख लेनी चाहिये कि हम अपना परलोक सुधारें। यदि उस दिशा में कुछ किया जा सका तो मृत्यु रूपी दुःख भी क्षणिक ही सिद्ध होगा, क्योंकि मृत्यु के पार तो वह पारलौकिक सुख विद्यमान ही मिलेगा, जिसकी प्राप्ति के लिये हम इस जन्म में उपाय कर चुके हों।

विवेकी पुरुष मृत्यु की चिन्ता कभी नहीं करते, वरन् वे तो उसे भी जीत लेते हैं। योग साधना के द्वारा उनके लिये स्थूल को लाँघना कोई बड़ी बात नहीं होती। वे अपने सूक्ष्म शरीर से सर्वत्र अबाध आवागमन में समर्थ होते हैं। हमारे प्राचीन आचार्य परकाया प्रवेश कर लेते थे, वह उनका स्थूल को लाँघना ही था।

परकाया-प्रवेश की विद्या जिन्हें आती थी, वे शरीर से क्षणमात्र में उसी प्रकार निकल जाते थे, जैसे कोई पहिना हुआ वस्त्र उतार दे। कहते हैं कि वर्तमान समय में भी ऐसे सिद्ध पुरुष विद्यमान अवश्य हैं, चाहे उनकी संख्या कितनी नगण्य क्यों न हो।

किन्तु, जिन्हें परकाया-प्रवेश की विद्या नहीं आती, वे भी अपने आत्मोत्कर्ष के लिये तो प्रयत्न कर ही सकते हैं। पहिले बता चुके हैं कि नाम-स्मरण से मन पवित्र और चंचलता-रहित हो जाता है। अपने मन को उसमें लगाये रहें तो स्वयं ही वह शक्ति हमें प्राप्त होने लगती है, जो योग साधन आदि अधिक कष्टकर उपायों के द्वारा मिल सकती है।

नाम-स्मरण भी एक प्रकार का योग ही है। उसके अभ्यास से भी मन का आत्मा के साथ योग (सम्पर्क) होता है। यह आवश्यक नहीं कि किसी नाम विशेष का ही उच्चारण या स्मरण किया जाय, जिस नाम

से अपना प्रेम हो वही नाम उपासना के योग्य हो सकता है। क्योंकि परमात्मा के नाम असंख्य हैं, जिस नाम का स्मरण करोगे वह उसी एक का स्मरण होगा।

वस्तुतः नाम स्मरण की महिमा बहुत बड़ी है। हमारे ऋषि, मुनि, सन्त, कवि आदि सभी उसका अस्तित्व स्वीकार करते रहे हैं। पद्मपुराण के अनुसार नाम-स्मरण के फलस्वरूप शीघ्र ही संसार के बन्धनों से छुटकारा होता है; यथा—

नाम संस्मरणादेव संसारान्मुच्यते क्षणात्।

गरुड़पुराण में भी कहा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स वाह्याभ्यतरः शुचिः।।

अर्थात्—अपवित्र अवस्था में हो या पवित्र अवस्था में, कैसी भी अवस्था में क्यों न पड़ा हो, यदि वह परमात्मा का स्मरण करता है तो बाहर-भीतर से पवित्र हो जाता है।

और जब पवित्र हो गया, तब परलोक-सुधार के उपाय में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं रह सकती। उस स्थिति में मृत्यु दुःख दायिनी नहीं, वरन् अत्यन्त आनन्द के देने वाली सिद्ध हो सकती है। क्योंकि मृत्यु के पार अमृत है, शाश्वत जीवन और परम आनन्द है। वही आनन्द जिसकी अभिलाषा में बहुत-से व्यक्ति इधर-उधर भटकते फिरते हैं।

सन्त पुरुषों के लिये जैसा जीवन वैसा ही मरण। उसे जीवन के सुख-दुःख से कोई लगाव नहीं होता, केवल जीवनयापन भर के लिये उसकी किंचित् आसक्ति रह सकती है। जो पुरुष सच्चे ईश्वर-भक्त होते हैं, उन्हें तो आहार और वस्त्र की भी कोई चिन्ता नहीं होती, क्योंकि उनके योग-क्षेम की चिन्ता तो स्वयं भगवान् को होनी चाहिये और

होता भी यही है कि न जानें कहाँ से उनकी आवश्यकता की पूर्ति स्वतः होती रहती है ।

जीवित मृत्यु —

इसीलिये सन्त पुरुष जीवन में ही मृत्यु के अभ्यस्त हो जाते हैं । वे अपने नौ द्वारों (बाह्य विषयों) से वृत्ति और चेतन सत्ता को समेट कर अन्तर्मुखी कर लेते हैं, तब उनका सीधा सम्पर्क आन्तरिक नाद से हो जाता है । उसी से उन्हें अनेक सामर्थ्यों की सहज में ही प्राप्ति हो जाती है । विवेकीजन साधना की इसी स्थिति को जीवित मरण कहते हैं । गुरु नानकदेव जी का कथन है-

नानक जींवतिआँ मर रहिए ऐसा जोग कमाइये ।

अर्थात्—'ऐसा योग-साधन सिद्ध करो, जिससे जीवित ही मृत्यु का लाभ मिल जाय ।' सन्त दादू कहते हैं-

जीवित माटी हो रहो, साईं सनमुख होय ।
दादू पहिले मर रहो, पीछे मरे सब कोय ।।

यह दार्शनिकता भारत की ही नहीं है, पाश्चात्य देशों में भी इसके अनुयायी मिलेंगे । और तो क्या, बाइबिल में ही सेंटपाल का कहना है कि 'मैं नित्यप्रति मरता हूँ ।' गुरु अमरदास भी कहते हैं—

सतगुरु सेवे ताँ मल जाँए ।
जीवत मरे हरि सिओं चित लाए ।।

अर्थात्—सच्चे गुरु की सेवा से मन का मैल और अपवित्रता छूट जाती है । भगवान् में चित्त लगाने वाले पुरुष तो जीवित ही मरने में समर्थ हो जाते हैं ।

इस्लाम की एक हदीस का कथन है--'मौतूआ कलबन्ता मौतू' अर्थात् 'मृत्यु से पूर्व ही मर जाओ ।'

परन्तु, जीवित मृत्यु का अर्थ आत्मघात या आत्म हत्या नहीं है। यह मृत्यु लौकिक विषयों से होने के कारण पारलौकिक ही है। सन्तों के साधन-मार्ग में भौतिक मृत्यु का कुछ भी महत्व नहीं समझा जाता। जो लोग आत्मघात द्वारा मृत्यु को वरण करते हैं, वे कोई अच्छा कार्य नहीं करते, इस लोक में भी दुःख उठाते हैं और परलोक में भी।

प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप करने से दुःख ही दुःख है। भगवान् ने जितनी आयु दी है, उसका भोग भी कर्म भोग के अन्तर्गत ही है। परलोक सुधार का उपाय किये बिना आत्मघात द्वारा जीवन लीला समाप्त कर लेने पर इस आयु में शेष रहे कर्म योग अगले जन्म भोगने होते हैं।

परन्तु, सन्तों के साधन मार्ग द्वारा यदि जीवित मृत्यु के लक्ष्य की प्राप्ति हो सके तो वह एक बहुत आनन्दमय स्थिति होगी। अध्यात्म में जिस जीवमुक्ति की चर्चा मिलती है, वह भी जीवित मृत्यु का ही एक रूप है।

जीवित मृत्यु का अर्थ उस आनन्द की प्राप्ति है, जो साधारण मनुष्यों को किसी प्रकार सम्भव नहीं है। अष्टांग योग में आठवाँ साधन समाधि है, उसमें भी मनुष्य परमानन्द में रम जाता है। योग दर्शनकार ने धर्मसेघ नामक समाधि का फल बताते हुए कहा है-'ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः अर्थात् 'उस समाधि से क्लेशकर्म की निवृत्ति हो जाती है।

उक्त अवस्था के पश्चात् पुरुषार्थ-रहित गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं, जिनका परिणाम् जीवन मृत्यु (मोक्ष) ही है। यथा—

पुरुषार्थ शून्यानां गुणानाँ प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। (यो. द. ४।३४)

अर्थात्—पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लय हो जाना अथवा चित शक्ति का अपने रूप में अवस्थित हो जाना ही कैवल्य (मोक्ष, मृत्यु) है।

★

सद्गुरु की आवश्यकता-

किसी भी ज्ञान की प्राप्ति में सद्गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु के बिना कोई भी ज्ञान अधूरा होता है। पुस्तकों में पढ़ कर जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह प्रेक्टिकल नहीं है और प्रेक्टिकल ज्ञान के बिना कोई भी ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् राम और कृष्ण ने भी गुरु से ज्ञान प्राप्त किया था। सन्त तुलसी साहब का कथन है—

राम क्रशन ते को बड़ो तिनहूँ भी गुरु कीन।
तीन लोक के नायका गुरु आगे आधीन॥

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामचरित मानस में गुरु की महिमा पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जो विरंचि संकर सम होई॥

अर्थात्—गुरु ब्रहमा और शिवजी के समाम महाम महिमावान होता है, उससे ज्ञान प्राप्त किये बिना कोई भी संसार सागर से पार नहीं हो सकता।

गुरु नानकदेव का कथन है-

भाई रे गुरु बिनु गिआनु न होइ।
पूछहु ब्रह्मे नारदै वेद बियासै कोइ॥

अर्थात्—अरे भाई! गुरु के बिना ज्ञान कभी नहीं हो सकता। यदि इस विषय में विश्वास न हो तो ब्रहमा नारद और वेद व्यास से पूछ देखो।

उक्त वचनों में कुछ अन्तंकथाएं निहित हैं। एक बार जब देवर्षि नारद भगवान् विष्णु के दर्शनार्थ विष्णुधाम में पहुंचे तो द्वारपालों ने भीतर जाने से रोक दिया। नारदजी ने पूछा कि क्यों नहीं जाने देते' तो उन्हें बताया गया कि 'उनका कोई गुरु नहीं, और निगुरों को भीतर नहीं जाने दिया जाता।' बेचारे विवश होकर लौटे और अपना गुरु बनाया।

यही बात शुकदेवजी के साथ हुई। यह वेद व्यास के पुत्र थे और गर्भावस्था से ही परम ज्ञानी थे। जब वे भगबान् के दर्शनार्थ वैकुण्ठ धाम में गये, तब उन्हें भी निगुरा होने के कारण भीतर जाने से रोक दिया गया। वहाँ से लौटकर उन्होंने अपने पिता की सम्मत्ति से राजा जनक को अपना गुरु बनाया।

इसीलिये हमारे धर्मशास्त्रों ने गुरु को त्रिदेव स्वरूप तथा परब्रहम स्वरूप कहा है—

> गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
> गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

अर्थात्—गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु तथा शंकर स्वरूप भी है, वस्तुतः गुरु साक्षात् परब्रहम ही है, इसलिए गुरु के लिये नमस्कार हो।

ऋग्वेद का वचन है—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान् निरोधत।' अर्थात् 'उठो, जागो और गुरुजनों से ज्ञान प्राप्त करो।' श्रीमद्भागबत के अनुसार—

> निमज्यान्मज्जतां धोरे भवाब्धौ परमायनम्।
> सन्तो ब्रहमतिदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

अर्थात्—जैसे जल में डूबते हुओं को उबारने के लिए नाव सहारा होती है, वैसे ही भवसागर में डूबने से बचने के लिए ब्रहमज्ञानी सन्तों की आवश्यकता होती है।

वस्तुतः गुरु वरण करने का मुख्य उद्देश्य उसकी आत्मा से अपनी आत्मा को जोड़ लेना है। जैसे किसी बड़े सरोवर के साथ छोटी तल-इया को एक नाली के द्वारा मिला देते हैं तो बड़े सरोवर का पानी उस तलइया में भी आने लगता है तथा जब तक सरोवर नहीं सूखता तब तलइया भी नहीं सूखती।

ज्ञान की प्राप्ति केवल पढ़ने की नहीं होती, गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही पूर्ण रूपेण हो पाती है—

गुरुपदेशतो ज्ञेयं न च शास्त्रार्थ कोटिभिः।

अर्थात्—विद्या को केवल शास्त्रों के द्वारा ही नहीं, गुरु के द्वाराभी सीखे। क्योंकि करोड़ों शास्त्र भी गुरु के समान अनुभव कराने में समर्थ नहीं होते।

योगवशिष्ठ में कहा है—

गुरुपदेश शास्त्रार्थे बिना चात्मा न बुध्यते।
एतत्संयोग सत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी॥

अर्थात्—गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन के बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि आत्मज्ञान का प्रकाश अधिकारी जिज्ञासु, गुरु और शास्त्र तीनों के ही संयोग से होता है।

महाभारत के शान्ति पर्व (२९९।३२) में संगति के प्रभाव पर चर्चा करते हुए कहा गया है—

यदि सन्त सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वास्तेनमेव।
वासो यथा रंग बशं प्रयाति
तथा स तेषां वंशतभ्युर्पति॥

अर्थात्—वस्त्रों को जैसे रङ्ग में रङ्गे, वैसे ही रङ्ग के होजाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य सन्त, असन्त तपस्वी, चोर अथवा अन्यान्य जिस प्रकार के मनुष्यों का संग करता है, वैसा ही हो जाता है।

इस प्रकार सन्त-चरणों में जाने वाला शिष्य भी उनकी कृपा से सन्त बन सकता है। क्योंकि गुरु की कृपा के बिना ज्ञान नहीं हो पाता और ज्ञान न हो तो परमात्मा की प्राप्ति अथवा मोक्ष किसी भी प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा—

दुर्लभो विषये त्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनम्।
दुर्लभो सहजावस्था सद्गुरोः करुणा बिना॥

अर्थात्—बिना सद्गुरु की करुणा के विषयों का त्याग और तत्व का दर्शन कभी प्राप्त नहीं हो सकता है। सहजावस्था (प्रकृतिस्थ होना) भी असम्भव है।

संसार में मन्त्र अनेकानेक हैं, किन्तु उनका फल तभी होता है, जब सिद्धि कर ली जाय और वह सिद्धि, जब तक ज्ञान हो, हो नहीं सकती। इस विषय में धर्मशास्त्रों की यह भी मान्यता है-

अनेक कोटि मन्त्राणि चित्त व्याकुल कारणम्।
मंत्रं गुरोः कृपाप्राप्तमेकं स्यात् सर्व सिद्धिदम्॥

अर्थात्—करोड़ों मन्त्र चित्त को व्याकुल करने वाले ही सिद्ध होते हैं, (उनसे किसी प्रकार की सिद्धि नहीं हो सकती), किन्तु गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ एक मन्त्र समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने में समर्थ है।

उसका मुख्य कारण कठोपनिषत् (१।२।६) के अनुसार—"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्ये नैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ' अर्थात् 'हे श्रेष्ठः आत्म बुद्धि तर्क से नहीं मिलती, दूसरे के द्वारा कही जाने पर ही भले प्रकार से जानी जा सकती है।

सद्गुरु की पहचान-

अनेकों सन्त-महात्मा पृथिवी पर विद्यमान हैं। अनेकों ने गेरुए वस्त्र धारण किये हुए हैं तो अनेक साधारण वस्त्रों में सादगी से रहते हैं। बहुतों ने वस्त्रों का त्याग किया हुआ है तो बहुत-से लंगोट, कम्बल आदि को पहनते और साथ रखते हैं।

बहुत-से सन्तों ने बड़े-बड़े आश्रम बना लिये और लाखों शिष्य कर लिये हैं। शिष्यों की इतनी बड़ी संख्या का कारण चाहे उनको कोई सिद्धि हो या न हो, परन्तु आडम्बर अवश्य है। मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे आडम्बर के आकर्षण में खिचे जाते हैं।

हमारे देश में भेड़ चाल भी प्रसिद्ध है। कुछ लोग एक कार्य को करने लगे तो दूसरे बहुत से व्यक्ति उसका अनुसरण करेंगे। सोचेंगे कि इतने व्यक्ति एक कार्य को कर रहे हैं तो अवश्य उसमें कुछ न कुछ तथ्य होगा ही। इसी प्रकार लोगों का मिथ्या विश्वास भीड़ वृद्धि के कारण बन जाती है।

परन्तु ऐसे सन्त पुरुष भी हैं जो भीड़-भाड़ पसन्द नहीं करते और सदा यही चाहते हैं कि उनके पास कोई न आवे। क्योंकि जो लोग आयेंगे, उनके द्वारा किसी न किसी प्रकार से साधना में विघ्न अवश्य उपस्थित होगा। उन्हें सदा अकेले रहने में ही अपना कल्याण दिखाई देता है इसलिये वे अधिकतर निर्जन वन में रहना पसन्द करते हैं।

कुछ साधु-संन्यासी किसी एक स्थान पर नहीं रहते। वे कभी कहीं जा ठहरते हैं। किसी से परिचय नहीं रखना चाहते और यदि किसी स्थान पर परिचय बढ़ने लगे तो वैसे उसे छोड़कर चले जाते हैं और किसी नये स्थान पर जाकर ठहरते हैं।

शहर, नगर, ग्राम आदि में बहुत- से साधु-सन्त देखे जाते हैं, किन्तु यह निश्चय कठिन होगा कि उनमें से सद्गुरु अथवा पूर्ण गुरु होने की योग्यता किसमें हो सकती है। अनेक साधु-वेशधारी मनुष्य लोगों को ठगते फिरते हैं। कभी-कभी उनके अनाचरण और विश्वासघातयुक्त कार्यों की घटनाएँ समाचार पत्रों में देखी जाती हैं। भोले भाले गृहस्थ स्त्री-पुरुष उनकी भेष-भूषा और लटकेदार बातों में आकर हानि

कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने क्षुद्र सिद्धियाँ प्राप्त कर ली और लोगों को आकर्षित करने के लिए चमत्कार दिखाते फिरते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो बुद्धिमत्तापूर्ण बातें करके लोगों पर प्रभाव डालते हैं। कुछ की लेखनी में बल है और वे उसी के बल पर अपने अनुयायियों को संख्या बढ़ाते रहते है।

परन्तु, इन सब में ऐसे कितने हैं जो आध्यात्मिक ज्ञान देने की क्षमता रखते हों। कितनों ने स्वयं अभ्यास के द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त किया है। क्योंकि बिना निजी अनुभव के दूसरों को शिक्षा देना असम्भव है।

यह आवश्यक नहीं कि सद्‌गुरु घर-ग्रहस्थ त्यागी संयासी अथवा ब्रह्मचारी ही हो। ज्ञान और अभ्यास एकाधिकार की वस्तु नहीं, जो साधन करे, वही प्राप्त करने का अधिकारी हैं। चाहे वह गृहस्थ है या वानप्रस्थ अथवा संन्यासी। किन्तु होना चाहिए पूर्ण ज्ञानवान्। ऐसा ज्ञानवान् की सम्बन्धित तथ्यों की सीख भले प्रकार से दे सकता हो।

मनुस्मृतिकार ने गुरु के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

निषेफकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥

अर्थात्—जो स्वयं तो कर्तव्य कर्मों में ज्ञाता और संलग्न रहने वाला हो ही, दूसरों को भी वैसी ही प्रेरणा दे सके, ऐसे विप्र को गुरु कहते हैं।

शारदा तिलक में गुरु के जिन लक्षणों का वर्णन हुआ है, वे माननीय है—

मातृतः पितृतः शुद्ध भावो जितेन्द्रियः।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्व शास्त्रार्थं तत्ववित॥
परोपकार निरतो जपे पूजादि तत्परः।
अमोघ वचनः शान्तो वेद वेदार्थ पारगः॥

योगमार्गानुसन्धायो देवता हृदयंगवः।
इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुरागम सम्मतः ।।

अर्थात—जो असली मात-पिता द्वारा उत्पन्न एवं शुद्ध भाव वाला जितेन्द्रिय हो, जो सभी शास्त्रों के सार को जानता हो, जो परोपकार में लगा रहने वाला तथा जप-पूजन आदि उदासना कर्मों में निरत हो, जिसकी वाणी अमोघ हो, शान्तचित्त, वेद-वेदार्थं का परदर्शी, योगमार्ग में अनुसन्धान सम्पन्न किये हुए और हृदय में देवता के समान दयावान हो। जिसमें ऐसे गुण हों, वही व्यक्ति शास्त्र की सम्मति में गुरु बनने के योग्य है।

शंकराचार्यजी के मत में गुरु वह हो सकता है जो हृदय की अज्ञान-ग्रन्थि को खोलने में समर्थ हो, यथा :—

अविद्या हृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवत्।
तयेव गुरुरित्याहुर्गुरु शब्देन योगिनः ।।

तत्वसार में गुरु की सामर्थ्य पर प्रकाश डालते हुए निम्न प्रकार कहा गया है—

यः समः सर्वभूतेषु विरागो वीत मत्सरः।
कर्मणा मनसा वाचा भीते चाभयदः सदा।
समबुद्धिपदं प्राप्तरतत्राति भगवन्वयः।
पंचकाल परश्चेव पाचा रात्रार्थ वित्तथा।
विष्णु तत्व परिज्ञाय एक चानेन भेदगम्।
दीक्षयेन्मेदिनी सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतान् ।।

अर्थात्—जो सभी प्राणियों को समान मानते, राग द्वेष से दूर रहते, कर्म-मन और वाणी के परोपकार रत तथा भयभीतों को अभय देते हैं, जो समत्व भाव वाले तथा परमात्मा में लीन रहने वाले हैं, नित्य

कर्म में सावधान तथा परतत्व के ज्ञाता हैं, ऐसे गुरु केवल शिष्य को ही नहीं, समस्त पृथिवी को भी दीक्षा देने में समर्थ हैं।

यद्यपि उपाध्यय, पिता, जाया, बड़ा भाई, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, बाबा तथा अपने से उच्च वर्ण के व्यक्ति गुरु ही माने जाते हैं, किन्तु 'आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणाम्' इन सब में आचार्य ही श्रेष्ठ गुरु है। क्योंकि 'गिरत्य ज्ञानमिति गुरुः' अर्थात् 'जो अज्ञान को दूर कर सके वह गुरु है।

गुरु का प्रमुख कार्य धर्म का उपदेश करना है—गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः।' किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरों को तो उपदेश करें और स्वयं उसका पालन न करें, ऐसे पर-उपदेश-कुशल व्यक्तियों को गुरु कहना अयुक्त है।

अनेक व्यक्ति ठाट-बाट से रहते, खूब ऐश आराम करते, अटूट धन-वैभव के स्वामी हैं। अपने सन्तानादि के लिये भी उन्होंने लाखों की सम्पत्ति अर्जित कर उन्हें पूँजीपति बना दिया है। ऐसे व्यक्ति चाहें कितने भी प्रभावशाली हों, गुरु होने के योग्य नहीं हो सकते। गुरु नानकदेव का उपदेश है—

गुरु पीर सदाय, मंगल जाइ।
ताके भूलि न लगीए पाइ॥
घालि खाइ किछू हत्थों देइ।
नानक राह पछाणहि सेइ॥

अर्थात्—उन लोगों के चरण स्पर्श न करो जो अपने को गुरु अथवा पीर कहते हुए माँगते फिरते हैं। इस मार्ग को तो केवल वही पहचानते हैं जो परिश्रम करके अपना भोजन स्वयं उपार्जन करते और उसमें से दूसरों को भी देते हैं।

दिखावे के लिए चमत्कार करने वाले भी गुरु नहीं हो सकते। उन्होंने 'जन क्षुद्र सिद्धियों को सिद्ध किया है, वे परमात्मा के मार्ग में

व्यवधान रूप हैं—'ते सामाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: (योग दर्शन ३।३७) अर्थात् 'सिद्धियाँ समाधि की सिद्धि (आत्मज्ञान प्राप्ति) में विघ्न रूप हैं।'

चमत्कार तो बहुत-से जादूगर भी दिखाते हैं, तब क्या वे आत्मज्ञान का भी उपदेश दे सकते हैं। यदि नहीं तो चमत्कारी मनुष्य के आकर्षण से दूर रहो, क्योंकि वह तुम्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं करा सकता। चमत्कार तो भ्रम में डालने वाले हैं, जिन्हें माया भी कह सकते हैं।

जिसमें सदाचरण का अभाव हो, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार रूपी पाँच विकारों के अधीन हो, वह चाहे कितना ही तन्त स्वरूप हो, गुरु बनने के योग्य नहीं है। ऐसे व्यक्ति से तो दूर रहने में ही कल्याण है।

संसार में अनेक प्रकार के प्रपंच हैं, इसलिए विद्वानों ने संसार को ही प्रपंच नाम दिया है। भोगों की वासना, अपनी विकार ही हैं, यह जिस व्यक्ति में जितनी अधिक मात्रा में होंगे, उतना ही विषयों के पंख में फसाटे जाँयेगे। कविबर दाऊदयाल गुप्त कहते हैं—

ख्याति भोग अरु स्वजन हित यह प्रपंच बड़ तीन।
नहिं आतम हित कर सके जो इनके आधीन।।

जो विद्वान और आत्मदर्शी सन्त अपने-पराये के फेर में नहीं रहता जिसे किसी जाति, धर्म या रङ्ग-भेद के प्रति लगाव नहीं, जो सभी को समान दृष्टि से देखता हो, और प्राणि मात्र के कल्याण की बात सोचता हो वही गुरु होने के योग्य हो सकता है।

जो अपने उपदेशों के बदले कुछ लेने की कामना नहीं करता और न किसी उपकार के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित करता है। उसे संसार में अपने यश और व्यर्थ निन्दा की भी परवाह नहीं होता तथा बिना किसी बात की चिन्ता किये सभ्यता के मार्ग पर बढ़ता जाता है, ऐसा सन्त गुरु होने के योग्य है।

जो गृहस्थाश्रम का पालन करता हुआ भी समस्त वासनाओं को छोड़ चुका है और काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अहंकार रूप पाँच विकार जिससे दूर हो चुके है और जो आत्मज्ञान में पारंगत तथा उस विषय की शिक्षा देने में समर्थ है, ऐसा मनुष्य संन्यासी न होते हुए भी संन्यासी के समान तथा गुरु बनाने के योग्य हैं।

जिसके पास सभी की पहुंच समान रूप से हो, जिसे न तो निर्धन से घृणा हो और न धनवान से प्रेम हो, जो किसी ख्याति प्राप्त या राज-पदस्थ व्यक्ति के प्रति आकर्षित न हो, वरन् योग्य या सन्तपथ के अधिकारी मनुष्यों को आदर देता हो, ऐसा ज्ञानी पुरुष गुरुपद के योग्य हो सकता है।

गुरु के लिये शास्त्रज्ञान बहुत आवश्यक है, क्योंकि शास्त्रज्ञान के आश्रय में ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वायुपुराण में कहा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥

अर्थात—जो शास्त्रों के उद्देश्यों तथा अर्थों को ठीक प्रकार से जाने, स्वयं सदाचारी हो तथा मनुष्यों को सदाचार में लगावे उसे आचार्य (गुरु) कहते हैं।

गुरु नानकदेव आत्मज्ञान की प्राप्ति में नादयोगी को ही गुरु बनाने का परामर्श देते हैं।

सतगुरु पूरा सबद सुनाए।
अनदिन भगति करहु लिव लाए॥

पूर्ण सद्गुरु वही है जो शब्द (नाद) के सुनने में सहायक हो।

नानकदेव अन्यत्र इसे और भी स्पष्ट करते हैं—

कहु नानक जिस सतगुरु पूरा।
बाजे ताके अनहद तूरा॥

अर्थात्—जिसका सद्गुरु पूर्ण है, उसे अनहद (दिव्य शब्द) रूप तुरही की आवाज स्पष्ट सुनाई देती है।

संत पलटू साहब का भी ऐसा ही कथन है।

धुन आनै जो गगन की सो मेरा गुरुदेव।

अर्थात्—जो आकाश की ध्वनि (दिव्य नाद) सुना सके, वह मेरा गुरुदेव है। अभिप्राय यह कि गुरु वही है जो दिव्य नाद सुनाने में समर्थ हो।

अधूरे गुरु का आश्रय सदैव खतरे की घण्टी है क्योंकि जब वह स्वयं ही अधूरा है तो दूसरों को क्या सिखायेगा? हजरत ईसा का कथन है कि 'यदि किसी अन्धे का मार्ग दर्शन कोई अन्धा ही करे तो दोनों ही गड्ढे में जा गिरेंगे।'

गुरु नानकदेव का उपदेश है कि समस्त द्वीप, लोक, पाताल आदि ब्रह्माण्ड विस्मयकारी है, क्योंकि इनमें से शब्द की रसीली ध्वनियाँ निकल रहीं हैं। सद्गुरु मनुष्य शरीर में होने वाली पंच ध्वनियों को सुनाने में समर्थ होता है। यदि सुषुम्ना नाड़ी में शब्द को सुनकर शून्य मण्डल में लौ लगाओ (ध्यान करो) तो समस्त आशा-वासना समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार आत्मा को शब्द के साथ जोड़ने में जो समर्थ हो, वही पूर्ण सद्गुरु है।

जो गुरु कहलाने वाला व्यक्ति अपने शिष्य को आन्तरिक नाद सुनाने में समर्थ नहीं, उसे गुरु मानना निरर्थक है, क्योंकि आन्तरिक नाद वही सुनवा सकता है जो शब्द में लीन तथा नाम-ध्वनि में रमा हुआ है। वही इस कलिकाल में प्राणियों को भवसागर से पार कर सकता है।

वस्तुतः शब्द की प्राप्ति के लिये आपको कहीं अन्यत्र नहीं जाना होता, वह तो सदा आपके अन्तर में है। किन्तु गुरु की सहायता के

बिना उसे सुन नहीं पाते हैं। सुनने की विधि जानने के लिये सद्गुरु की आवश्यकता होती है।

योगाचार्यों ने जिन छः चक्रों का वर्णन किया है, उनमें से पाँच आँखों से नीचे वाले भाग में (मूलाधार से कण्ठ तक) विद्यमान है। छठा आज्ञाचक्र आँखों से ऊपर के भाग में है। जिसने नीचे के पाँच चक्रों का वेधन कर लिया, वह साधक दूसरों से तो श्रेष्ठ है किन्तु पूर्ण गुरु होने के योग्य नहीं है। पूर्ण गुरु तो वही हो सकता है, जिसने छठे (आज्ञा चक्र) का भी वेधन कर डाला और जिसकी कुण्डलिनी सहस्रार में जा पहुँची है। वही आन्तरिक शब्द को सुनने-सुनाने में समर्थ है। हंसोपनिषद् में कहा है—

अथो नाद आधाराद् ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त शुद्ध स्फटिक सकाशः स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते।

अर्थात्—मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जो नाद निरन्तर होता रहता है, वही स्वच्छ स्फटिक के समान परमात्मा कहा जाता है।

हंसोपनिषत्कार ने इसे हंस-विद्या कहते हुए ब्रह्मज्ञान का साधन गुरु प्रदत्त ज्ञान को ही बताया है—

हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः।
आत्मानमात्मना साक्षात्ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चतम्॥

अर्थात्—इस हंस विद्या को गुरु से प्राप्त करके आत्मा से आत्मा का साक्षात्कार करे और निश्चल ब्रह्म (परमात्मा) को जाने।

प्रत्येक श्वास-निःश्वास में शब्द रूप परमात्मा निहित है। योग-वेत्ताओं का मत है कि मनुष्य नित्य प्रति इक्कीस हजार छः सौ बार श्वास लेता-छोड़ता है और उन सभी के साथ परमात्मा का नाम जप होता रहता है। जब मनुष्य श्वास लेता है तब हकार की और श्वास छोड़ता है तब सकार की ध्वनि होती है। इस प्रकार 'हंस' शब्द बनता

है, जो कि परमात्मा का एक नाम है। जीवात्मा को भी हंस कहते हैं। यह हंस ध्वनि वाली अजपा गायत्री है, जिसे न चाहते हुए भी जपना पड़ता है। हंसोपनिषत् में ही कहा है –

ब्रह्म स्थाने तु नादः स्याच्छकि न्यमृतवर्षिणी।
षट् चक्रमण्डजोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत्॥

अर्थात—ब्रह्मरन्ध में नाद सुनाई देने लगता और शान्ति की नाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगती है षटचक्रमण्डल का भेदन होने पर ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशित हो जाता है।

परन्तु यह नाद सुनाई तभी देगा जब कोई पूर्ण सद्गुरु उसमें सहायक होगा। गुरु चरणों में बैठ कर ज्ञान प्राप्त करना, सन्तों से सत्संग करना और शास्त्रों का अध्ययन करना,आत्म-विकास के यह तीन साधन हैं। जब तक सद्गुरु न मिले तब तक सत्संग और शास्त्राध्यन का भी आश्रय लिया जा सकता है।

गुरु चरणों में श्रद्धा सहित विनत होकर ज्ञानार्जन भी सत्संग में ही आता है। क्योंकि जैसे मनुष्य की संगत करेंगे वैसा ही स्वभाव बनेगा। कहा भी है—संगत बैठे साधु की हरे और की व्याधि। शास्त्र बचन भी है—

यदृशैः सन्निवसति यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्चभावतुं तादृग्भवति पुरुषः॥

अर्थात्—जो जिसके साथ रहता है, जो जिसकी सेवा करता है, अथवा जो जिसके समान होने की इच्छा करता है, वह पुरुष वैसा ही हो जाता है।

यदि गुरु सदैव पास न रहे तो शिक्षा द्वारा उनका छोड़ा हुआ प्रभाव तो सदा साथ रहता ही है। वह प्रभाव भी उतना ही हितकर होता है, जितना उनके साथ रहना। यथा—

दर्शन ध्यान सस्पशान् मत्सी कूर्मी च पक्षिणी।
शिशून् पालयते नित्यं तथा सज्जन संगति ।।

अर्थात् – जैसी मछली, कछवी और चिड़िया अपने शिशुओं का पालन दर्शन, ध्यान और स्पर्श मात्र से करती रहती हैं, वैसे ही संतों की संगति से ही शिष्य का पालन होता रहता है।

संगति के प्रभाव से बढ़े-बढ़े चोर-डाकुओं का मन भी बदल गया। न जानें कितने वधिक अपना कुकर्म छोड़कर सच्चे सन्त बन गये। सत्संग का प्रभाव भी मन-पटल कर गहरा जाकर बैठता है, जिसके फल स्वरूप मनुष्य अपने स्वभाव में बिना प्रयास किये ही परिवर्तन देखने लगता है।

बुरे मनुष्यों के संग से अच्छे भी बुरे बन जाते हैं। न जाने कितने अच्छे स्वभाव वाले मनुष्य कुसंगति में पड़कर दुरात्मा बन बैठे। इसलिए विद्वानों का उपदेश है कि संगति सदा ऐसे मनुष्यों की करनी चाहिए जो सदाचारी हों।

जो लोग आत्मा की उन्नति चाहते है, उन्हे ज्ञानवान पुरुषों की संगति में रहना चाहिए क्योंकि ऐसे पुरुषों का संग सदा कल्याणकारी होता है। उद्धव को ज्ञानोपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही सत्संग की महिमा बताते हैं—

न रोधयति माँ योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।।
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुद्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्।।

अर्थात्—योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्टापूर्त-कर्म, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, मन्त्र, तीर्थ यम-नियम आदि मुझे उतना प्रसन्न नहीं कर सकते, जितना कि सम सगों को निवारण करने वाला सत्संग करता है।

सत्संग का अभिप्राय है—सच्चे पुरुषों की संगति करना 'सत्' शब्द में यथार्थ भरा पड़ा है वह अस्तित्व का वाचक भी है। जहाँ सत्य है वहीं जीवन है, वहीं आत्मा है। आत्मा सत्य है, जीवन सत्य है। असत्य के सम्पर्क आकर आत्मा आवरित हो जाता है। उस आवरण के दूर करने में जो सहायक हो, वही सत्य है। उस सत्य के सम्पर्क में आना ही सत्संग है।

सद्गुरु वही है जो सत्य को जानता है। जैसे परमात्मा सत्य है, वैसे ही गुरु भी सत्य है। इसीलिये उसे सद्गुरु की संज्ञा दी जाती है। यदि सत्य की खोज करनी है तो सद्गुरु की शरण लेनी होगी। उन्हीं का सङ्ग करना होगा। आत्मज्ञान की प्राप्ति का यही एक श्रेष्ठ उपाय है।

सत्संग में जाने पर मन को गुरु या सन्तजनों के उपदेशों को ध्यान से सुनने में लगाना चाहिए। मन, वाणी और कर्म सभी कुछ उसमें योजित कर दे। जो सुपरिणाम अष्टांग योग के विभिन्न साधनों से प्राप्त हो सकता है, वह अकेले सत्संग से ही प्राप्त हो सकता है।

सत्संग में प्रस्तुत किया जाने वाला ज्ञान मन पर गहरा प्रभाव डालता है। गुरुवाणी की लहरें तीव्रता से मन के पर्तों में प्रसिद्ध होती जाती और आत्मा तक को आन्दोलित कर देती हैं।
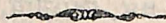
स्मरण या जप की असाधारण भूमिका

स्मरण के अनेक अर्थ हैं--याद करना, विगत घटनाओं या बातों पर पुनः ध्यान देना, किसी प्रिय की मूर्ति को दृष्टि में रखते हुए स्मृति पर जोर देना आदि। स्मरण की बार-बार आवृत्ति यदि जिह्वा के द्वारा हो तो उसे जप कहते हैं। जब साधक जप का निरन्तर अभ्यास करता है, तब वह उपयोगी कहलाता है।

स्मरण का तात्पर्य ध्यान भी है। हठयोग का सातवां अंग ध्यान है, जिसमें परमात्मा की इष्ट छवि पर आन्तरिक दृष्टि टिकाई जाती है। यह आवश्यक नहीं कि ध्यान साकार का ही हो निराकार के उपासक भी परमात्मा का स्मरण ध्यान के द्वारा ही करते हैं। ध्यान के परिपक्व होने पर समाधि की अवस्था स्वतः आ जाती है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में स्मरण की बार-बार आवृत्तिरूप जप को यज्ञ मानते हैं। और वह यज्ञ भी कैसा? अत्यन्त श्रेष्ठ। भगवान् ने स्वयं ही यज्ञानां जप यज्ञोस्मि' कह कर उसकी महिमा का प्रतिपादन किया है। जो यज्ञ साक्षात् भगवान का ही अंशभूत अथवा स्वरूप है, उसके महिमावंत होने में सन्देह भी क्या हो सकता है।

जप में वाणी और दृष्टि दोनों का ही योग है। जपकर्ता जब परमात्मा के नाम का जप करता है, तब उसके अनन्य भाव का और शब्द का योग होता है। जिह्वा उस शब्द-शक्ति को व्यक्त करने में सहायक होती है। जब बार बार नाम की रटना लगती है, तब चित्त वृत्ति बाह्य विषयों से हटने लगती है। स्मरण और शब्द जब दोनों का संयोग होता है, तब उसमें एक अपराजित शक्ति उत्पन्न हो जाती है। उसी के प्रभाव-

वश साधक यदि नेत्रों को खुले रखे तो भी बाह्य दृश्य को देख नहीं पाता। क्योंकि उस समय आन्तरिक दृग खुल जाते और बाह्य नेत्रों पर परदा पड़ जाता है।

यह वही अवस्था है, जिसे योगियों की भाषा में प्रत्याहार कहते हैं। वस्तुतः यह अवस्था अष्टांग योग की पाँचवी है, तो भी प्रत्याहार के अभ्यास में सफल हुए साधक को योग के आठों अंगों की प्राप्ति अकेले इसी के अभ्यास से हो जाती है। उसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि, इन सात अङ्गों के साधने की आवश्यकता ही शेष नहीं रहती। जो कुछ भी अष्टांग योग से प्राप्त हो सकता है, वह सब इस एक ही के साधन से मिल जाता है।

जब जपयोगी स्मरण-रत रहकर प्रत्याहार की स्थिति प्राप्त कर लेता है, तब उसकी नेत्र और कान, दोनों ही जिहवा की रटन के साथ जुड़ जाते हैं। साथ ही चित्त की वृत्ति भी उसी प्रकार का आकार धारण कर लेती है, जिसका जप किया जाता है। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अभ्यास में पूर्ण रूपेण सफलता मिल रही है।

और इसकी सफलता का श्रेय मन को है। मन जब जिहवा के साथ हो जाता है, नेत्रों और कानों को बाहरी ज्ञान से विमुख कर लेता है, तब वह आत्मा का अनुयायी बन जाता है। यदि वह अपना अहंभाव छोड़कर आत्मा को श्रेष्ठ मानने लगे और उसके दर्शन की, परमात्मा के दर्शन की परमात्मा के दर्शन की उत्कट इच्छा करने लगे तो साधक को प्रत्याहार की स्थिति सहज सम्भव है।

जिहवा बोलने के लिये हैं, कान सुनने के लिये और नेत्र देखने के लिये। जब किसी से बोलना अपेक्षित हो तब उस प्रकार बोलो जिससे परमात्मा के स्मरण में विघ्न न पड़े। वही बातें सुनो जिससे अपना और संसार का कल्याण हो सकता हो। इसी प्रकार अनपेक्षित, भगवान्

के साधन-मार्ग के विरुद्ध या विषय भोगों में आकर्षित करने वाले दृश्यों को नहीं देखना चाहिये।

महात्मा गाँधी जी ने भी अपने उपदेशों में कहा था—बुरा मत बोलो बुरा मत सुनो और बुरा मत देखो। यदि साधक इस प्रकार के निश्चय पर दृढ़ हो जाय, फिर तो कहना ही क्या।

लोग नाटक, सिनेमा, स्वाँग, तमाशे आदि देखते हैं। आत्मा की खोज के इच्छुक मुमुक्षुओं को इनसे लाभ कुछ नहीं हो सकता क्योंकि इन सब में किसी न किसी रूप में विलासिता की विद्यमानता रहती ही है। अनेक नाटक, सिनेमा आदि में तो अश्लीलता की भी भरमार होती है।

रामलीला या रासलीला या अन्य धार्मिक मंचनों के प्रति भी यह कैसे कहा जा सकता है कि उनसे शिक्षा मिलेगी क्योंकि उन सब में प्रायः विषय वस्तु से भिन्न बहुत-से बाह्य प्रसङ्ग जोड़ दिये जाते हैं, जिन्हें देखने से दर्शकों का मनोरंजन सही अर्थों में तो होता नहीं। वरन् अनेक दृश्यों का मन-मस्तिष्क पर विपरीत प्रभाव ही पड़ता है।

अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप स्वार्थी लोगों ने धार्मिक कथाओं और अवतार-चरित्रों में भी बहुत मनमानी की है। वही मनमानी कम से कम मुमुक्षु-जिज्ञासुओं के लिए तो हानिकारक ही होती है। उनमें प्रयुक्त वाक्, श्रवण और दृश्य तीनों ही उस प्रकार से सिद्ध नहीं हो पाते, जिससे कोई आत्मज्ञान का अभिलाषी मनुष्य आत्म-लाभ प्राप्त कर सके।

उस प्रकार के संवाद और दृश्य मन-मस्तिष्क को प्रभावित किये बिना नहीं मानते। उनकी याद बार-बार आजाने से साधना-मार्ग में बाधा उपस्थित हो जाती है। वस्तुतः बाह्य संवाद और दृश्य भगवान् की प्राप्ति में रोक लगाते हैं। यदि कोई किसी प्रकार मन को कुछ संयत करने में सफलता भी लीलामय दृश्यों को देखकर मनुष्य असमंजस में पड़ जाता है कि सत्य क्या है।

इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए सन्त कबीर ने बाह्य दृश्यों को साधना मार्ग में बाधक मानकर कहा था–

कबीर माला मनहिं की और संसारी भेख।
माला फेरे हरि मिलैं तो गले रहट के देख ।।

अर्थात—सच्ची माला तो मन की ही है, और सब तो सांसारिक औपचारिकता मात्र है (दिखावा है) यदि बाहरी माला के फेरने से ही हरिमिल जांय तब तो कहने ही क्या। क्योंकि रहट के गले में तो निरन्तर माला फिरती रहती है, इसलिये उसे भगवान् क्यों नहीं मिले।

हाथ में माला और जिह्वा पर भगवान् का नाम, यह दो साधन जप में सहायक होते हैं। परन्तु मन दृढ़ नहीं हो पाता तो माला चलती रहती है, नाम-जप भी होता रहता है, किन्तु मन का योग नहीं रहता और वह न जानें कहाँ कहाँ भागता फिरता है। कबिवर दाऊदयाल गुप्त कहते हैं।

मनका मनका राम रट फेरत माला हाथ।
पर कैसे सुमिरन बने जब मन होई न साथ ।।

यदि मन ही साध नहीं तो कितनी ही मालाएँ फेरते रहो भगवान् का स्मरण तो हो नहीं सकता। जिह्वा चाहे राम नाम रटे अथवा किसी अन्य नाम का जाप करे, उससे लाभ कुछ भी नहीं हो सकता।

यह तो तभी सम्भव है जब मन एक निमेष भर के लिये भी इधर-उधर न हो क्योंकि उसके किंचित् हटने पर ही किया हुआ साधन भी व्यर्थ हो जाता है। कबीर कहते हैं--

तन थिर मन थिर वचन थिर सुरय निरत थिर होई।
कह कबीर इस पलक को कलप न पावै काइ ।।

अर्थात–शरीर स्थिर हो, मन और वचनों में भी स्थिरता रहे सुरत (आत्मा) और निरत (प्रभु प्राप्ति की लगन, प्रेम भाव) भी इतने स्थिर

हों कि उनमें किञ्चित अलगाव न रहे, स्मरण की यह अवस्था यदि एक पल भी रही आवे तो उसकी समानता कल्प भी नहीं कर सकता।

वस्तुतः अनन्य भाव और सच्चे प्रेम से किया जाने वाला स्मरण चाहे क्षणभर ही क्यों न हो, अत्यन्त फलदायक है। जबकि भाव में अनन्यता न हो तथा प्रेम की कमी हो तो चाहे दिन भर ही जप क्यों न करते रहे, किसी भी काम का नहीं।

यह शंका की जा सकती है कि बाहरी नाम अन्तर पर प्रभाव कैसे डाल सकता है। उसका समाधान यह है कि बाहरी नाम जब स्मरण करते-करते दृढ़ हो जाता है, तब वह अन्तरात्मा के साथ सम्बन्ध बनाने लगता है। उस सम्बन्ध में दृढ़ता उत्पन्न होने पर ही आत्मज्ञान की सम्भावना होती है।

इसलिए सच्ची भावना से प्रभु-काम का स्मरण करना चाहिए। आत्मा की दृढ़ता के लिए, उसकी पुष्टि के लिए आहार चाहिए। भौतिक आहार नहीं, दिव्य आहार। क्या हो सकता है वह दिव्य आहार। भग -वान् का नाम स्मरण। कोई मकान खड़ा किया जाय तो उसके लिए ईंट, चूना, सीमेंट आदि की उपेक्षा रहती है। बहुत-से लोग गारे से ही चिनाई करा लेते हैं चूना सीमेंट आदि से निर्मित मकान मजबूत रहता है, जबकि गारा-मिट्टी का बना हुआबहुत कमजोर। इसीप्रकारआत्मा की दृढ़ता भी नाम जप की अधिकता और दृढ़ता पर निर्भर है क्योंकि उसके लिए वही एक श्रेष्ठ रसायन सिद्ध हो सकती है। इसलिए सन्त -जन उन्हें आत्मिक भोजन की संज्ञा देते है।

गुरु-प्रदत्त नाम अथवा उपदेश के अनुसार परमात्मा के नाम का सच्चे भाव से स्मरण करना चाहिए क्योंकि उससे मार्ग खुलने लगता है। जब वह नाम अन्तर में प्रविष्ट होकर आत्मा के सम्पर्क में जाता है, तभी सिद्धि होने लगती है। यद्यपि समय उसकी प्रगति में अन्य बाधाएँ

डालता है, तो भी नाम में बड़ी शक्ति होती है। वह आत्मा की कारण और सूक्ष्म देशों में यात्रा का मार्ग धीरे-धीरे विस्तृत करता जाता है।

नाम-स्मरण सभी प्रकार के विघ्नों के दूर होने में सहायक है। कैसी भी बाधाएँ उपस्थित हों, स्वतः दूर हो जाती हैं। जप में शब्द के योग से जिन तरङ्गों की उत्पत्ति होती है, वे बाहर से खिंचकर भीतर जा पहुँचती और आत्मा को प्रभावित कर लेती हैं। इस प्रकार उस जप को आत्मा की अनुकूलता प्राप्त होने लगती है।

जप के दो भेद प्रमुख हैं—मानसिक और वाचिक। मानसिक जप में केवल मन ही नाम-स्मरण में लगा रहता है, वह शब्दों का अधिक सहयोग नहीं लेता। उस प्रकार के जप को आचार्यो ने उत्तम माना है दूसरे प्रकार का जप शाब्दिक होता है। जिह्वा के साथ शब्दों का उच्चारण चलता है, जो कि बाह्य वातावरण की पवित्रता में सहायक होता है।

जप को उच्च स्वर में करने या रागादि के समावेश पूर्वक करने को संकीर्तन कहते हैं। उसके प्रभाव से दूसरे लोग भी आकर्षित होते हैं, इसलिए इसे भी कल्याणकारी माना गया है।

परन्तु सबसे श्रेष्ठ है आन्तरिक जप जो कि मन के द्वारा चलता रहे। उसी से आत्म लाभ हो सकता है। गुरु नानक कहते हैं कि वह आन्तरिक जप भी संकीर्तन ही है—

अखन्ड कीर्तन तिन भोजन चूरा।
कहु नानक जिन सतगुरु पूरा॥

वस्तुतः भीतर का अनहद नाद ही अखण्ड संकीर्तन है, वही आत्मा के लिए भोजन है। किन्तु उसकी विधि पूर्ण सद्‌गुरु से सीख लेनी चाहिए। यदि वाहरी कीर्तन करें और मन को उसमें न लगायें तो भी उससे कुछ लाभ होने वाला नहीं है।

आत्मिक जप के लिए माला आदि की भी आवश्यकता नहीं है। यदि होती तो श्वास-प्रश्वास में चलता रहने वाला जप तभी चलता जब माला हाथ में होती और अंगुलियाँ उसके मनकों पर फिरती रहती। परन्तु अजपा गायत्री का जप स्वतः क्रमबद्ध रूप से चलता रहता है। इससे सिद्ध है कि माला आदि का संयोग तो प्रारम्भिक साधन मात्र है।

यदि परमात्मा के स्मरण में मन इतना लीन होजाय कि उनका भी आसन डोल उठे, वे दौड़ पड़ें अपने स्मरणकर्ता को अपनाने के लिए। यदि साधक ने सच्ची प्रीति की तो कोई कारण नहीं कि सफलता न मिले जिन्हें सच्ची प्रीति नहीं होती, वे बड़ी कठिनाई से कुछ आगे बढ़ते तो हैं, किन्तु मार्ग में ही रह जाते हैं क्योंकि प्रीति नहीं तो लक्ष्य की प्राप्ति कैसी।

परमात्मा की प्रीति का मार्ग काँटों भरा है। यदि योगी पुरुष इस पर चलें और बढ़ते रहें तो उनके लिए वे काँटे वैसे ही सिद्ध होंगे जैसे गुलाब में काँटे रहने पर भी फूल लेने के इच्छुक काँटों की परवाह नहीं करते और फूल ग्रहण करते ही हैं।

प्रीति के भी अनेक रूप हैं—उसका आश्रय गृहस्थ, योगी, संन्यासी तथा व्याधिग्रस्त सभी लेते हैं, किन्तु दृष्टि अपनी-अपनी, जिसकी जैसी चाहना रही उसे उसी प्रकार का फल मिला राधा महाकाव्य में कवि-वर दाऊदयाल गुप्त कहते हैं—

साधना है-योगियों को योग है,
वासना है-भोगियों को भोग है।
प्रेम बनता रोगियों को रोग भी,
प्रेम का इच्छित रहा उपयोग भी॥

यह आपकी इच्छा पर निर्भर है कि उसका अपेक्षित उपयोग करें। यदि उसका उपयोग परमात्मा के मार्ग में किया जाय तो अन्तर्दृग खुलने

में देर नहीं लगती। यही प्रीति की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। बड़े-बड़े महात्मा इसी प्रीति पर सर्व त्याग कर बनवासी हो गये।

भगवान राम भिलनी के घर गये और उसके जूठे बेर प्रेम सहित खाये। भगवान् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के मेवा-मिष्ठान त्याग कर विदुर के घर शाक-पात का भोजन किया। कथा में वर्णन है कि पत्नी भगवान् को फल खिलाने बैठी तो प्रेम में इतनी मग्न हो गई कि फल छीलकर उनके छिलके भगवान् को दे देती और फलों के गूदे फेंक देती। उसे यह होश ही नहीं था कि मैं क्या कर रही हूँ। गुरु अर्जुनदेव का कथन है-

मूसन मरमु न जानई मरत हिरत संसार।
प्रेम पिरम न बंधिओ उरझियो मिथ गिउहार॥

अर्थात्—यह संसारी जीव इतना अन्धा हो रहा है माया-मोह आदि के आवरण में कि वह आत्म तत्व को जानना ही नही चाहता। इसे प्रेम तथा प्रेमपात्र का भी बोध नहीं है, क्योंकि यह तो संसार के मिथ्या व्यवहारों में फँसा हुआ है।

परमात्मा के यहाँ किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है। वह तो सभी को समान दृष्टि से देखता है। उसका मार्ग और दरबार सभी के लिये खुला है। कबीर कहते हैं-

राजा राना राव रंक बड़ा जो सुमिरै नाम।
कहि कबीर बड्डों बड़ा जो सुमिरै निहकाम॥

अर्थात्—राजा, राणा, राव, अमीर, जमीदार, सेठ, साहूकार आदि कोई भी उतना बड़ा नहीं है, जितना हरिनाम का स्मरण करने वाला बड़ा है। दरिद्र भी प्रभु-नाम स्मरण करता है तो वह स्मरण न करने वाले राजा या सम्राट से भी बड़ा है। उनमें भी सबसे बड़ा वह है जो निष्काम भाव से स्मरण करता है, उनसे कुछ माँगता नहीं क्योंकि परमात्मा तो बिना माँगे ही सब कुछ देने वाले हैं।

संसार में दुःख, शोक, भय, चिन्ता तथा अनेक प्रकार की व्याधियाँ लगी हुई हैं। उन सब से मुक्त होने के लिये प्रभु-स्मरण से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। वस्तुतः इन सबको दूर करने का यदि कोई श्रेष्ठ साधन है तो भगवान् के नाम का स्मरण ही है। किसी प्रकार का भी संकट हो परमात्मा को याद करो। उससे वह संकट दूर हो जायगा।

और जो हर समय परमात्मा को याद करते हैं, उन्हे तो दुःख कभी व्यापता ही नहीं इसलिये सदा उसे याद करते रहो तो वह तुम्हे दुखी होने ही न देगा। सुख हो या दुःख एक परमात्मा का प्यार नाम ही उन्नति और श्रेय का सर्वोत्तम साधन है। किन्तु सुख में उसे भूल जाओ और केवल दुःख में याद करो, तो भी ठीक नहीं। सन्त कबीर का कथन है—

सुख में सुमिरन ना किया, दुख में किया याद।
कह कबीर ता दास की कौन सुने फरियाद॥

जब सुख में उसे याद नहीं करते और दुःख उपस्थित होने पर उसे पुकारते हो तो तुम्हीं सोचो कि कौन फरियाद सुनेगा? परमात्मा भी जब यह देख लेता है कि इसने तो मेरा पल्ला ही पकड़ लिया छोड़ना चाहता ही नहीं तो फिर सहायता के लिए हाथ बढ़ाता है।

यही कारण है कि अनेक सन्त-महात्मा प्रत्येक श्वास प्रश्वास के साथ प्रभु नाम लेते हैं। उनकी अजपा गायत्री प्रभुनाम के रुप में परिवर्तित हो जाती है। परमात्मा इस नाम ही साधक की इच्छा के अनुकूल नाम धारण कर लेता है। यह सब नाम-साधना के ही प्रभाव से सम्भव है। गुरु नानकदेव कहते हैं—

इक पलु खिनु बिसरहि तू सुआमी
जाणउ बरस पचासा॥

अरे, जीव ! एक पल या क्षणभर के लिए भी तू परमात्मा को भूल गया तो समझ ले कि तेरे पचास वर्ष व्यर्थ हो गये । अभिप्राय यह कि एक क्षणभर का भी स्मरण पचास वर्ष सुमिरन-रहित रहने के बराबर है । जिन्होंने प्रभु-नाम का रस चख लिया, वे उसके बिना एक निमेष भी नष्ट नहीं करना चाहते हैं ।

एक कहावत है कि एक बार मूसा को यह अभिमान हो गया कि स्वामी के लिए सब से अधिक प्यारा मैं ही हूँ, मेरे समान कोई प्रिय नहीं है । इसलिये उसने परमात्मा के पास जाकर पूछा कि 'क्या तुम्हारा मुझसे भी प्यारा कोई और है ? यदि हो तो मुझे बताओ ।' परमात्मा ने उत्तर दिया--'अरे' मेरे प्यारे तो बहुत से हैं, केवल मनुष्य ही पशु-पक्षी भी मेरे अत्यंत प्रिय हैं, क्योंकि वे भी मुझे बहुत प्रेम करते हैं । देख, तुझे अधिक कुछ जानने की इच्छा है तो सामने के बीहड़ वन में जा, वहाँ एक पेड़ पर पक्षी बैठा मिलेगा । उससे मिलकर पूछ अपने प्रश्न को ।'

यह सुन कर मूसा ने निवेदन किया—'वहाँ जाकर क्या करूँगा ? मैं पक्षी की भाषा तो जानता नहीं, फिर उसकी बातको समझूंगा कैसे ?' ईश्वर ने कहा--'अरे, वहाँ जा तो सही, तुझे पक्षी की बात समझने की शक्ति प्राप्त हो जायगी ।'

तब मूसा स्वामी के आदेशानुसार उस पक्षी के पास जाकर पूछने लगा--अरे पक्षी ! अपने हाल-चाल बता ।' पक्षी ने उत्तर दिया--में किसी से भी बात नहीं करता, किन्तु तुम मेरे प्रियतम के भेजे हुए यहाँ आये हो, इसलिये उत्तर दे रहा हूँ—सुनो ! मैं स्वामी के स्मरण में इतना निरत हूँ कि उससे किंचित् भी अवकाश नहीं लेना चाहता ।'

मूसा ने कुछ देर सोचा और फिर पूछा--'भाई ! तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं है ?' इस पर पक्षी ने कहा—'इस बात को जान कर तुम क्या

करोगे ?' मूसा ने कहा—'यदि कोई कष्ट हो तो मैं दूर कर सकता हूँ, इसीलिये पूछा है तुमसे।'

पक्षी उसकी बात पर हँस पड़ा, बोला—'यदि कर सकते हो तो देखो, वह सामने एक झरना बह रहा है। जब प्यास लगती है तो मुझे उस झरने पर जाना पड़ता है, जिससे मेरे स्मरण-कार्य में विघ्न पड़ता है। तुम उस झरने को मेरे समीप ला दो।' यह सुनकर मूसा आश्चर्य चकित रह गया। इसीलिये संत कबीर ने अपने उपदेशों में कहा—

सुमिरन में मन लाइये जैसे नाद कुरंग।
कह कबीर बिसरै नहीं प्रान तजै तेहि संग॥

'जैसे हिरण आवाज पर सदा ध्यान लगाये रहता है, वैसे ही अपने मन को हरि-स्मरण में लगाये रहो। वह स्मरण तब तक निरंतर चलता रहे, जब तक शरीर में प्राण रहें अर्थात् स्मरण करते-करते ही प्राणों का त्याग करे।' इसी प्रकार और भी कहा है—

सुमिरन में मन लाइये जैसे कीट भिरंग।
कबीर बिसरै आपको होय जाय तेहि रंग॥

भृंगी एक ऐसा कीड़ा है जो अन्य कीड़े को लाकर उस पर अपना प्रभाव छोड़ता है, जिससे वह दूसरा कीड़ा भी उसके प्रभाव में इतना भर जाता है कि भृंगी के ही समान हो जाता है क्योंकि वह भृंगी के प्रभाव में अपने आप को बिलकुल ही भूल जाता है।

फिर परमात्मा ने तो सभी प्राणियों को प्राकृतिक रूप से स्मरण का स्वभाव प्रदान किया है और श्वास-प्रश्वास ही नाम स्मरण में लगा हुआ है। कबीर भी कहते हैं—

अजपा सुमिरन घट विषे दीन्हा सिरजनहार।
ताही से मन लगि रहा कहै कबीर विचार॥

देखो शरीर में ही अजपा गायत्री के रूप में नाम स्मरण स्वतः चल रहा है। यह किसी प्रयत्न या साधना आदि से उपलब्ध नहीं, वरन् स्वतः सिद्ध है। यदि मनुष्य इसे प्रखर बनाना चाहे तो अभ्यास से बना सकता है।

नाम-जप से प्रभावित श्वास प्रश्वास भी धन्य हो जाते हैं। क्योंकि जप में प्रकट होने वाले शब्द में जो शक्ति है, वह अन्य किसी पदार्थ में नहीं हो सकती क्योंकि शब्द ब्रह्म है, वह भौतिक नहीं, दिव्य है। जिसमें दिव्यता होती है, वह नाशवान नहीं होता। नाश तो भौतिक का ही होता है।

सभी धर्म, सभी सम्प्रदाय और उनके प्रामाणिक ग्रंथ शब्द को अत्यंत महिमावन्त मानते रहे हैं। वेदों में भी शब्द की महिमा का यशोगान हुआ है। ऋग्वेद में कहा है—'यावत् ब्रह्म श्रेष्टतावती वाक्" अर्थात् जिस स्तर तक ब्रह्म श्रेष्ठ है, उसी तक वाक् श्रेष्ठ है।' अर्थात् वाणी (शब्द) भी ब्रह्म के ही समान श्रेष्ठ है।

और सतपथ ब्राह्मण में तो शब्द और ऐक्य ही माना गया है—'वाक् एव ब्रह्म' अर्थात् 'वाणी ही ब्रह्म है।' यह पद वाणी (शब्द) और ब्रह्म की अभिन्नता का वाचक है। जिसे हमारे यहाँ मंत्र शक्ति कहा गया है, वह शब्द की ही शक्ति है। गायत्री प्रभृति मंत्रों में जो सामर्थ्य बतायी जाती है, वह परमात्मा की ही है। फकीर इसी को कलामे इलाही अथवा कलमा कहते हैं। बांगे सुल्तानी, सुल्तान-उल अजकार या इस्मे-आजम भी इसी का नाम है।

ईसा ने शब्द को ही लोगास अथवा वर्ड कहा है। भारतीय योगी इसी को गान कहते हैं। ध्वनि भी शब्द का ही पर्याय है। गुरु नानक के मत में यही सच्ची वाणी, अमर वाणी या गुरुवाणी है। यही न कह

सकने योग्य अकथ गाथा है तो यही भक्तजनों में किया जाने वाला हरि-कीर्तन है।

दिव्य वाणी, निर्मल नाद, अमरनाद, संकीर्तन, राधुमन, कृष्णधुन, आदि भी यही है। स्तुति, स्तोत्र या प्रार्थना भी इसी का नाम है। यही बाह्य शब्द है तो यही आन्तरिक अनहद नाद है। सामान्यतः गुरु नानक ने भी इसे शब्द अथवा नाम ही कहा है। और भी अनेक नाम हो सकते हैं शब्द के, किन्तु इनका ज्ञान जिज्ञासु बनने से ही प्राप्त हो सकता है।

एक ही शब्द के अनेक नाम हैं। कहो कुछ भी, उससे कुछ फरक पड़ने वाला नहीं है। प्रक्रिया, साधना या पर्याय अनेक होते हुए भी लक्ष्य तो एक ही है। फिर भाषा या पर्याय के बखेड़े में क्यों पड़ा जाय ? बस, परमात्मा का नाम जपना ही एक मात्र उद्देश्य बनाओ। किसी भी नाम को परमात्मा मान कर उसका स्मरण करो- वही नाम तुम्हारे लिये सिद्धि का देने वाला बन जायगा।

अनेक व्यक्ति स्मरण तो करते हैं परमात्मा का किन्तु उसमें बदले की भावना रहती है। वे अपने स्मरण के एवज में ईश्वर से कुछ चाहते हैं। कोई स्त्री की कामना करता है तो कोई सन्तान की। कोई धन चाहता है तो कोई यश। परन्तु सांसारिक पदार्थों की क्या अभिलाषा करे, वे सब तो असत्य एवं नाशवान हैं। उनसे किसी प्रकार की सिद्धि नहीं हो सकती। कबीर कहते हैं—

नर नारी सब नरक है जब लगि देह सकाम।
कह कबीर सोइ पीव को जो सुमिरै निहकाम॥

अर्थात्—स्त्री-सन्तान आदि की याचना क्या करनी ? वे सब तो नरक रूप हैं। यदि मिल भी जायें तो इस जन्म में ही अशान्ति उत्पन्न कर देंगे और अन्त में नरक में घसीट ले जायेंगे ?

और स्त्री, पुत्र आदि का नाता तो इस संसार के साथ ही है, संसार समाप्त तो सभी कुछ समाप्त। स्त्री-पुत्र तो क्या अपना शरीर भी तो साथ नहीं देता। सब कुछ यहीं रह जाता है—धन, वैभव तथा लौकिक सुख के साधन आदि।

तब अपने स्वामी से उन वस्तुओं को क्यों माँगें जो हमारा साथ ही नहीं दे सकती ? यदि माँगना है तो उनसे उन्हीं को माँगो। कबीर कहते हैं—

किआ माँगउ किछु थिरु न रहाई।
देखत नैन चलिओ जगु जई॥

अरे, माँगते क्या हो, क्योंकि कोई भी भौतिक पदार्थ स्थिर नहीं है। यह समस्त संसार आँखों के देखते-देखते ही विलीन हो जाने वाला है।

इसलिए नाशवान वस्तुओं की अपेक्षा वही माँगो जो स्थिर रह सके। केवल परमात्मा ही स्थिर और अमर है, उसी का नाम न मिटने वाला है। कुछ लोग शंका करते हैं कि एक ही परमात्मा के अनेक नाम क्यों हुए और वे सब नाम मनुष्य कृत हैं अथवा प्राकृतिक ? तो इसका समाधान भी स्पष्ट है—शब्द प्राकृतिक है, वह अप्राकृतिक नहीं हो सकता। रही नाम-भेद की बात तो वह समय-समय पर होता रहा। समय परिवर्तनशील है तो उसके प्रभाव से नामों में भी परिवर्तन हो सकता है।

यह परिवर्तन बहुलता का भी सूचक है। जब-जब मनुष्य ने उनका नया नाम लिया, तब-तब पिछले नामों में वृद्धि ही हुई, पुराना नाम तो यथावत रहा। जैसे कि परमात्मा ने वराह-अवतार लिया तो तब से नामों की शृङ्खला में 'वराह' जुड़ गया। नृसिंह-अवतार के बाद नृसिंह रामावतार के बाद राम और कृष्णावतार के बाद लोग कृष्ण नाम लेने लगे।

मुहम्मद साहब के आने पर अल्लाह या खुदा तथा नानक देव के आने पर वाहिगुरु नाम का आरम्भ हुआ। यह नाम कब-कब से चले, इसका पता सहज ही लगाया जा सकता है। अभिप्राय यह कि जितने भी नाम हैं, वे सब सार्थक हैं, निरर्थक कोई नहीं। इसलिए उन सबका महत्व है।

यही कारण है कि सभी नाम समान है, किन्तु उनके जप-प्रभाव में अन्तर का कारण साधक की लगन का अन्तर ही प्रमुख है। एक व्यक्ति तन्मय होकर कार्य करता है, उसके कार्य में सफाई भी अधिक आती है और पूरा होने में समय भी कम लगता है। जबकि दूसरा व्यक्ति उससे कम तन्मयता से कार्य करता है तो उसके कार्य में सफाई कम और समय अधिक लगता हैं। कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है, जिसका मन उस कार्य में न लगे और उसे उसमें सफलता प्राप्त न हो सके।

यही बात प्रभु-स्मरण के विषय में है। निरन्तर मन लगा कर सच्ची प्रीति सहित स्मरण का जो फल है, वह चंचल मन के साथ किये जाने वाले स्मरण की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। चंचल मन के साथ चाहे सच्ची प्रीति ही क्यों न हो उतना लाभ नहीं हो सकता जितना सुदृढ़ और निश्चल मन तथा सच्ची प्रीति सहित नाम-स्मरण का हो सकता है।

इससे स्पष्ट है कि नाम के अन्तर से फल का कोई अन्तर नहीं हो सकता। जो-जो परमात्मा के नाम हैं, उन सभी के जप का समान फल है। अन्तर हमारी आँखो का है, यदि दृष्टि तीव्र है तो स्पष्ट और मन्दी है तो धुँधला दिखाई देना स्वाभाविक है।

सन्तजनों ने नाम के दो भेद किये हैं—(१) वर्णात्मक, और (२) ध्वन्यात्मक। वर्णात्मक के चार भेद हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। वैखरी वाणी जिहवा से बोली जाती है, जैसे मनुष्य परस्पर में वार्तालाप करते हैं। दूसरी वाणी धीरे-धीरे कण्ठ में बोली जाती है, जैसे

कि बहुत ही मन्द स्वर में नाम-जप किया जाता है, उसकी आवाज बाहर नहीं निकली, जिससे कोई सुन नहीं पाता। तीसरी वाणी हृदय में और चौथी वाणी की हिलोरें योग-क्रिया के द्वारा नाभि में उठती हैं। यह सभी भौतिक हैं। इसलिये इनका उतना महत्व नहीं, जितना आन्तरिक ध्वन्यात्मक शब्द का महत्व है। क्योंकि वह इस लोक का नहीं पारलौकिक है, दिव्य है।

ध्वन्यात्मक शब्द मन और आत्मा में गाँठ खोलने में भी समर्थ है। यह लिखने, पढ़ने या बोलने में नहीं आता, यह तो भीतर से ही उठता है। यही परमात्मा का सच्चा नाम, गुण कीर्तन करने वाला सुखद संगीत है। इसी के द्वारा परमात्मा का द्वार खटखटाया जा सकता है। मोक्ष की प्राप्ति इसी के द्वारा सम्भव है।

जब तक इस ध्वन्यात्मक नाम तक पहुँच न हो पावे, तब तक बाह्य नामों का आश्रय लिया जा सकता है। उसी प्रकार, जैसे निर्गुण-साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिये पहिले साकार-साधना का सहारा लेने से सरसता रहती है। जिन्हें ध्यान का अधिक अभ्यास नहीं होता, जो निराकार परमात्मा का ध्यान करने में सफल नहीं होते, उनके लिए साकार उपासना लाभदायक सिद्ध होती है।

ध्यान उपासना का एक बहुत ही महत्व पूर्ण अंग है। जो साधक साधना का आरम्भ करना चाहते हैं, वे जब ध्यान पर पहुँचते हैं, तब उनके लिये निराकार-साधना में यह कठिनाई उपस्थित हो जाती है कि ध्यान किसका किया जाय। जब परमात्मा निराकार है तो ध्यान में केवल मन्धकार के स्मरण से तो काम चलने वाला नहीं है, इसलिए किसी न किसी रूप का ध्यान तो अपेक्षित है ही। जब अभ्यास में दृढ़ता आ जाय तब चाहे उस रूप का त्याग कर दिया जाय।

इसी प्रकार शब्द या नाम का प्रश्न है। यदि उपासना का रूप का ध्यान सहायक हो सकता है तो नाम का जप भी सहायक हो सकेगा।

क्योंकि जिसका रूप माने उसका नाम मानने में ही क्या आपत्ति हो सकती है और रूप के अनुसार ही नाम रहता है। यदि हम परमात्मा राम रूप का ध्यान करते हैं तो जप में भी राम का ही नाम लेना उचित होगा। कृष्ण रूप का ध्यान करने पर कृष्ण नाम का जप और शिव का ध्यान करने पर शिव-नाम का जप करना अनुचित नहीं हो सकता।

इसीलिये अनेक साधु सन्त इस प्रश्न पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते कि नाम जप किस रूप का किया जाय। उनके मत में यह निश्चय है कि जप किसी भी नाम का करो किन्तु असावधानी से चित्त को संयमित रखकर किया जाने वाला जप सदैव सफलता का कारण होता है। किन्तु जब तक चित्त चंचल रहेगा, जप को कोई लाभ नहीं हो सकता।

लोग दिन रात सुमरिनी हाथ में लिए रहते हैं और समझते हैं कि उनका हरि-नाम जप निरन्तर चल रहा है। किन्तु वे यह जानने की चेष्टा नहीं करते कि चंचल चित्त समस्त आशा पर पानी फेरे दे रहा है। जब वह वशीभूत न होगा, जब तक आत्मा, मन और नाम तीनों में एकपसता न होगी, तब तक नाम-जप व्यर्थ ही है। सन्त कबीर कहते हैं—

कबीर माला काठ की बहु ा लतन का फेर।
माला स्व ब उसास की जा में गाठ न मेर।।

अर्थात्—काष्ठ की बनी इस माला में गाँठ रूप से सुमेरु आजाता है, तब माला पीछे को उलटनी होती है और उसे फेरने में भी अधिक यत्न करना होता है। किन्तु भीतर से निकलने वाले श्वास-निःश्वास की माला में कोई गाँठ या सुमेरु नहीं है। इसलिए उसी को क्यों नहीं फेरते, जिसमें उलटने की भी आवश्यकता नहीं होती।

जब तक चित्त की चंचलता दूर नहीं होती और जब तक वह बाह्य विषयों की ओर दौड़ता रहता है, तब तक भी माला फेरने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। इस विषय में भी कहा है—

माला फेरे कहा भयो हृदय गाँठ नहिं खोय।
गुरु चरनन चित राचिये तो अमरापुर जोय॥
बाहर क्या दिखलाइये अन्तर जपिये नाम।
काह महोला खलक से पड़ा धनी से काम॥

अर्थात—जब तक हृदय की गाँठ नष्ट नहीं हो जाती, तब तक माला फेरने से क्या होने वाला है। यदि अमरत्व प्राप्ति की इच्छा है तो गुरु के चरणों में चित्त रखकर प्रभु-स्मरण करो। अरे, माला हाथ में लेकर जपने की क्रिया का बाहरी प्रदर्शन क्या करते हो? नाम-जप करना है तो भीतरी रूप से करो क्योंकि स्वामी से ही तो काम पड़ा है, दुनियाँ से क्या लेना-देना है।

बाह्य माला को फेरते-फेरते तो पूरी आयु निकल जाती है और फिर भी सफलता नहीं मिलती। न जानें कितने साधक इस प्रयत्न को कर-करके हार गये और न जाने कितनों ने अपने जापक वेश में लोगों को ठग कर स्वार्थों की सिद्धि की है। इसीलिए कबीर ने कहा है—

माला फेरत जुग गया गया न मन का फेर।
कर का मनका डार दे मनका मनका फेर॥

अरे मूर्ख मनुष्य! माला फेरते हुए तो तुझे युगों बीत गये, फिर भी मन का फेर दूर न हो सका। अब तू उसे दूर करना चाहता है तो हाथ के मनका को छोड़ दे और मन के मनका को फेरना आरम्भ कर।

सन्त पुरुषों ने स्थान-स्थान पर सच्ची वाणी या सच्चे शब्द का उल्लेख किया है। उसका अभिप्राय: आन्तरिक शब्द से ही है। गुरु नानकदेव का कथन है—'सच्चे सबद सच्ची पत होई।' अर्थात् 'सच्चे शब्दों के द्वारा ही सत्यस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है।'

आन्तरिक नाम या शब्द ही सच्चा है, उसी में परमात्मा विद्यमान है। यह शब्द कभी भी नष्ट नहीं हो सकता, सदैव अमर.अविनाशी है, जब कि वाह्य शब्द नाशवान है। इसीलिए निरन्तर प्रभु-स्मरण

के लिये सन्त-महात्मागण उपदेश देते हैं। और इसी से यह मान्यता बनती है कि हम प्रभू-स्मरण के द्वारा समस्त क्लेशों से मुक्त हो सकते हैं।

मन जब अन्तर्मुखी होकर आन्तरिक शब्द का रस प्राप्त करता है तब काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार यह पांचों शत्रु दग्ध हो चुकते हैं। फिर किसी प्रकार की विघ्न-बाधा उपस्थित नहीं होती। गुरु नानक कहते हैं—

सबदे धरती सबदे आकाश।
सबदे सबद भइआ परगास॥
सगली सृष्ट सबद के पाछे।
नानक यबद घटे घट आछे॥

अर्थात्—शब्द से ही पृथिवी और आकाश बड़े है तथा शब्द से ही शब्द प्रकट हुआ है। यह समस्त सृष्टि ही शब्द के पीछे है, क्योंकि घट-घट में शब्द विद्यमान है।

आन्तरिक या दिव्य शब्द से ही लौकिक शब्द की उत्पति हुई है। शब्द से ही संसार की तीनों क्रिया (सर्ग, स्थिति और प्रलय) सम्पन्न होती है। इस प्रकार समस्त सृष्टि, सभी लोक, सभी प्राणी शब्द के ही आश्रित हैं। शब्द के बिना कहीं कुछ भी नहीं है।

फिर, यही बात नहीं। इसी पंचभौतिक शरीर में अनेकों ब्रह्माण्ड अनेकों रत्न-मणियों के भण्डार भरे पड़े हैं। नव खंड वाली पृथिवी और उसमें विद्यमानता सभी पदार्थ बीज रूप से विद्यमान हैं, किन्तु उनकी जानकारी कोई सद्गुरु ही करा सकता है। गुरु नानकदेव का कथन है—

काइआ अन्दरि रतन पदारथ भगति भरे भण्डारा।
इस काइआ अन्दरि नउ खंड पृथमी हाट पटण बाजारा॥

परन्तु, इन सबको जो मनुष्य बाहर खोजते फिरते हैं वे अवश्य ही मूर्ख हैं। खोजते-खोजते जिंदगी बीत जाती है किन्तु मिलता नहीं। यदि वे बाहर की अपेक्षा अपने ही भीतर खोज करें तो उन्हें सफलता मिलना असम्भव नहीं।

क्योंकि समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ भी इसी काया में हैं। जहां आत्मा रूप से परमात्मा विराजमान है, वहाँ ऋद्धि-सिद्धि आदि की विद्यमानता क्या बड़ी बात है ? परन्तु भीतर प्रविष्ट हुए बिना वहाँ की थाह कोई न पा सका।

गुरु नानक देव कहते हैं कि जिससे इस संसार की उत्पत्ति है, वह इसी शरीर में विद्यमान है। सभी रूपों को अपने में समेटे हुए भीतर ही बैठा है—

काइआ अन्दरि ब्रह्मा बिसनु महेसा।
सभ ओपति जितु संसारा ।।

अर्थात्—काया के भीतर ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि समस्त देवता तथा जितना भी व्यक्त जगत् है, सभी इसमें है। परमात्मा की शक्तियाँ भी वहीं हैं। मूलाधार चक्र में गणेश्वर, इन्द्रिय चक्र में ब्रह्मा, नाभिचक्र में विष्णु, हृदय-चक्र में महेश्वर और कण्ठ चक्र में शक्ति विद्यमान है। दस इन्द्रियाँ मन, चित्त, बुद्धि और अहङ्कार, यह चौदह देवता माने गये हैं, जो कि सभी कुछ करने में समर्थ हैं।

अदिसूर्य, चन्द्रमा, अश्विनीकुमार, अग्नि, जल, वायु, आकाश, पृथिवी आदि क्या नहीं है इनमें ? समस्त सिद्धियाँ और शक्तियाँ इसमें प्रविष्ट होकर महिमामय बनाये हुए हैं इस शरीर को। परन्तु इसमें दो विलक्षण पदार्थ और भी हैं—

काइआ अन्दरि भउ भाउ बसै गुरु परसादी पाई।

वे विलक्षण पदार्थ क्या हैं—भय और प्रीति। हृदय में भय के साथ प्रीति भी है। वस्तुत: भय और प्रीति का जोड़ा माना जाता है।

जहाँ प्रीति होगी, वहाँ यह डर भी रहेगा कि कहीं प्रीति पात्र या आराध्य रुष्ट न हो जाय। अन्यत्र कहा है—'भय बिनु प्रीति न होइ' अर्थात् प्रीति भी उत्पन्न होती है जब भय की विद्यमानता रहती है। जिस आज्ञाकारी एवं भय से विनीत शिष्य पर गुरु की कृपा है, वह निश्चय ही हरि का सच्चा स्मरण करके दुर्लभ अभीष्ट की प्राप्ति में सहज ही सफल हो जाता है।

इस प्रकार तुम्हें जो कुछ चाहिए, उसकी खोज भीतर ही करो। गुरु के प्रसाद से जब आन्तरिक शब्द ब्रह्म का ज्ञान हो जायेगा, तब मन की ग्रन्थि सहज ही खुल जायगी और अपने प्रेम-पात्र प्रियतम की प्राप्ति में कोई बाधा शेष न रहेगी।
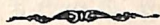
ध्यान का महत्व

सद्गुरु के नियन्त्रण में रहकर उनकी बताई हुई विधि के अनुसार किये जाने वाले स्मरण की सिद्धि पर जो अलौकिक उपलब्धियाँ होती हैं, उनमें व्याप्त आत्मा शरीर के नव द्वारों को त्याग कर और सिमट कर नेत्रों को पीछे दसवें द्वार में प्रविष्ट हो जाती है और तब शरीर प्राय: निर्जीव या सुन्न जैसा हो जाता है। उस समय अन्तर्मुखी स्थिति के फलस्वरूप साधक को आत्म-मण्डल में स्थित चन्द्र, सूर्य, तारामण्डल जैसा प्रकाश दिखाई देने लगता है। इसका समर्थन श्वेताश्वतर उपनिषद् के निम्न कथन से भी होता है—

नीहार धूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिक शशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥

अर्थात्—ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले योग में योगी के समक्ष कुहरा धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत्, स्फटिक मणि और चन्द्रमा के समान अनेक प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं। यह सब लक्षण योग की सफलता के सूचक हैं।

इस प्रकार स्मरण के फलस्वरूप जब आत्मा तीसरे तिल शिव नेत्र) में पहुंच जाती है तो वहाँ उसका ठहरना कठिन होता है, इसीलिए आत्मा को वहाँ स्थिर करने के उद्देश्य से आचार्यों तथा महात्माओं ने साधक को ध्यानावस्थित होने का उपदेश दिया है।

वस्तुतः ध्याम की क्रिया भी प्राणी के लिए उतनी ही स्वाभाविक है, जितनी की निरन्तर जप स्मरण की। वह जब जो कुछ कार्य करता है, उसी का स्मरण करता है और फिर उसका ध्यान भी उधर ही रहता है। प्रायः समस्त विचार सिमट कर उसी कार्य पर केन्द्रित हो जाते हैं। इस प्रकार स्मरण और ध्यान को एक-दूसरे के साथ रहना और पारस्परिक सहयोग करना होता है। यही कारण है कि साँसारिक विषयों में लगा हुआ स्मरण और ध्यान ही मनुष्य के संसार में बार-बार जन्म लेने और मरने में प्रमुख कारण बन जाता है।

मनुष्य जिस वस्तु की अभिलाषा करता है वह उसे अवश्य मिलती है चाहे इस जन्म में मिले या परजन्म में। सांसारिक भोगों में लिप्त हुआ मन स्मरण और ध्यान को भी अपनी ओर रखने के लिए प्रबल प्रयत्न करता है। जब तक मन की उस प्रबलता को नियन्त्रित नहीं किया जाता, तब तक आत्मा को परमात्म—मार्ग की सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

इसी बात को जानकर सन्त-महात्मा पुरुष सर्व प्रथम मन को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते हैं। उसके लिये जो प्रमुख उपाय है—प्रभु-स्मरण, उसकी चर्चा विगत पृष्ठों में की जा चुकी है। जब साधक को स्मरण में सफलता मिल जाती है, तब वह ध्यान-मार्ग में बढ़ने का प्रयत्न कर सकता है।

ध्यान की प्रक्रिया स्मरण से ऊंची है। परन्तु है उसके साथ ही। स्मरण भी तन्मय हुए बिना सिद्ध नहीं होता और वह तन्मयता ध्यान का ही एक रूप है। उसी की परिपक्वता पहिले ध्यान का और फिर समाधि का रूप ले लेती है।

ध्यान जिस वस्तु का किया जाता है, मन की वृत्ति उसी वस्तु का आकार धारण कर लेती है। इसी को शास्त्रकारों ने विषयानुकूल तद्-रूपता कहा है। ज्ञानार्णव ने इस तथ्य पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डालते हुए कहा है—

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैक मानसः।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः॥

अर्थात्—जब ध्यान करने वाला जिज्ञासु भाव से अपने चित्त को संयमित कर परमात्मा की शरण में अनन्य भाव से जाता और उसी में चित्त को लीन कर लेता है, तब उस ध्यान के मध्य जिस तन्मयता की प्राप्ति होती है, उससे वह स्वयं ही परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त होता है।

और गीता में भगवान् कृष्ण भी कहते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' अर्थात् 'जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूं।' इससे स्पष्ट है कि हमारी चित्त वृत्ति ध्यान के द्वारा वैसा स्वरूप धारण कर लेगी, जैसा कि हम सोचते-विचारते हैं।

ध्यान का लक्षण बताते हुए महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन (३।२) में स्पष्ट किया है—

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् ।

अर्थात्—जहाँ चित्त को ठहराया जाय, उसी में वृत्ति का एक-सी बना रहना ही ध्यान है।

ध्येय में चित्त वृत्ति का निरन्तर समान प्रवाह से लगे रहना, बीच में किसी अन्य प्रवाह का न आना, ध्यान यही स्वरूप है। साधक जब ध्यान करता है तब उसे यह बोध रहता है कि मैं अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ अर्थात् उस समय धातृ ध्येय और ध्यान तीनों का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। किन्तु ध्यान करते-करते जब धातृ (चित्त) ध्येय रूप में बदल जाता है और अपने रूप का अभाव-सा हो जाता है, तथा यह भी भान नहीं रहता कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, वरन् केवल ध्येय के स्वरूप का ही भान रहता है, तब वह स्थिति ध्यान से भी आगे बढ़ कर समाधि कहलाने लगती है।

नाम-स्मरण की सिद्धि के स्वरूप हमें योगदर्शन में वर्णित ध्यान की अवस्था सहज ही प्राप्त हो सकती है। वस्तुतः नामाभ्यास वाली क्रिया परमात्मा की प्राप्ति वाले जीने की प्रथम सीढ़ी है, जिस पर पाँव रखे बिना आगे बढ़ना कठिन है।

दूसरी सीढ़ी ध्यान ही है, उसकी सिद्धि का अभ्यास किये बिना तीसरी सीढ़ी (समाधि) पर नहीं चढ़ा जा सकता। वस्तुतः समाधि और कुछ नहीं, केवल ध्यान की ही परिपक्व अवस्था है। योग दर्शनकार ने समाधि का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

तदेवार्थमात्र नर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।

अर्थात्—जिसमें केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य या निःशेष हो जाय, उसी को समाधि कहते हैं।

और जब स्मरण के बाद ध्यान की सिद्धि हो जाय, तब समाधि की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। ध्यान की परिपक्वता होने पर आन्तरिक शब्द-ध्वनि का आभास होने लगता है, इसी ध्वन्यात्मक नाम की धारा आत्मा को अपनी ओर आकर्षित कर ऊर्ध्व मण्डलों में ले जाती और मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होती है।

इस प्रकार ध्यान के द्वारा चित्त के एकाग्र होने पर यह अनुभव सहज ही किया जा सकता है कि नेत्रों के पीछे की ओर से एक अत्यन्त मधुर ध्वनि आरही है। यह ध्वनि शरीर रूपी हरि-मन्दिर के भीतर से सदैव निकलती रहती है। मनुष्य किसी भी जाति, धर्म या मजहब का हो, सभी के शरीर से यह ध्वनि अवश्य निकलती रहती है। यह ईश्वरीय विधान है, जो सभी के लिये समान है। इसमें किसी प्रकार का अन्तर हो ही नहीं सकता। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, सिख कोई भी क्यों न हो, इस आवाज के सुनने का अधिकारी है। किसी को भी यह ईश्वरी आवाज सुनने के लिये कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आवाज प्रत्येक के शरीर में होती रहती है।

मनुष्य शरीर में नव द्वार हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नाक, मुख तथा नीचे भी दो इन्द्रियों के छेद बने हैं। इन्हीं नव द्वारों के द्वारा समस्त विश्व में विचार फैलते हैं। कोई कैसी ही गुफा में जाकर क्यों न छिप जाय, कैसी अन्धेरी कोठरी में रहने लगे और द्वार पर कितने ही कपाट क्यों न लगा लिये जाँय, मन उसमें स्थिर होकर बैठा नहीं रहेगा। वह तो समूचे विश्व में भ्रमण करने का आदी है, उसे ताले में भी बन्द कैसे किया जा सकता है ?

परन्तु एक दसवाँ द्वार और भी है जिसका रास्ता गुप्त है कि हर कोई पता नहीं लगा सकता क्योंकि उस सुदृढ़ वज्र कपाट चढ़े हैं, जिन्हें खोलना न तो सरल है और न कोई जानता ही है। यदि कोई जानता

है तो सद्गुरु ही, जिसकी कृपा से प्राप्त हुए शब्द ज्ञान के द्वारा इसके कपाट खोले जा सकते है।

इसी द्वार के खुलने पर घट प्रकाशमान हो जाता है और भीतर से सहज नाम ध्वनि सुनाई देने लगती है। यह ध्वनि शाश्वत है, सदा से होती चली आई है। परन्तु अज्ञान के फंदे में पड़ा हुआ मनुष्य उसे सुन-समझ नहीं पाता।

मन इतना चंचल है कि वह किसी भी प्रकार से वश में नहीं आता। कोई कितना ही ग्रंथों का स्वाध्याय करे, तप-साधन या योग-साधन करे, पूजा-पाठ में लगा रहे, कथा आदि सुनता रहे, किन्तु वह दीर्घकाल तक भी अपनी छलांगे भरना नहीं छोड़ता।

किन्तु, उसका उपाय भी है—यदि उसका साधन किया जाये तो मन का वश में होना असम्भव नहीं है। आन्तरिक ध्वनि को सुनने के अभ्यास से यह इधर-उधर दौड़ना छोड़ देता है। वस्तुतः शब्द में वह शक्ति है कि मन को तो क्या, समस्त संसार को ही वश में कर ले। विश्व के सभी जीव-जन्तु भी शब्द पर मतवाले हो जाते हैं।

संसार में आकर्षण करने वाली शक्तियाँ दो ही हैं क तो ध्वनि और दूसरा रूप। ध्वनि बहुत दूर से भी सुनाई दे जाती है, इसलिए उसकी प्रमुखता स्वीकार की गई है, जब कि रूप दृष्टि की जहाँ तक परधि है वहीं तक देखा जा सकता है इसलिए उसे दूसरा स्थान दिया जाता है।

आप देखते है कि सँपेरे की बीन की ध्वनि सुन कर मस्त हुआ सर्प झूमने लगता है। हरिण भी सुमधुर वाद्य ध्वनि को सुनकर तन्मय हो जाता है। पशु-पक्षी भी ध्वनि से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। जब विभिन्न देह धारियों पर ध्वनि का प्रभाव पड़ सकता है, तब मनुष्य तो

सबसे अधिक संवेदनशील हैं, उस पर तो सब से अधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ही।

यही कारण है कि मन्दिर आदि में शंख, घण्टा, घड़ियाल आदि बाजों के साथ आरती की जाती है। यह बात केवल हिन्दू मन्दिरों तक ही लागू नहीं है, जैन और बौद्ध मन्दिरों में भी घंटे रहते हैं। गिरजाघरों में भी घंटे बजाये जाते तथा सुमधुर स्वरों में प्रार्थना की जाती है।

हिन्दु और सिखों में कीर्तन की प्रथा है। उस कीर्तन में अन्तर होते हुए भी नाम और शब्द का प्रयोग तो होता ही है। अनेक कीर्तनकर्त्ता उसमें इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हे बाह्य दृश्य का कुछ ध्यान ही नहीं रहता। मुसलमान सूफी भी कव्वाली को प्रश्रम देते हैं, वह भी कीर्तन के समान ही है।

परन्तु, यह वाह्य ध्वनियाँ मनुष्य को आत्मिक-लाभ से वंचित रखती हैं। इनमें जो भी भ्रमित हो गया, वह सांसारिक असक्तियों से उबर नहीं सकता। क्योंकि बाहरी आवाजें कितनी ही मधुर और सुरीली क्यों न हो, मनुष्य को विषयों की ओर ले जाने का ही कार्य करती हैं।

वाह्य-ध्वनियों को अधिकाधिक आकर्षक बनाने वालों की कमी नहीं है। वे उन्हें इस प्रकार से प्रस्तुत करने में समर्थ हैं कि जो भी सुने वही उसमें निमग्न हो जाय, आत्म विभोर हो जाय। एक बार मन उसमें लगता तो अवश्य है, किन्तु उसी समय तक स्थिर रह पाता है जब तक कि वह कार्य क्रम चलता रहे।

यही कारण है कि उन वाह्य शब्द ध्वनियों से निकली हुई संगीत की तरंगे, मनुष्य को आत्मिक लाभ कराने में समर्थ नहीं हो सकती। कोई भी नाशवान वस्तु आत्मा के उपकार में असमर्थ है और वाह्य

संगीत नाशवान ही है, अमर नहीं, तो फिर आत्म-लाभ में सहायक कैसे होगा ?

परन्तु विषयासक्त मनुष्यों के लिये उसमें बहुत आकर्षण दिखाई देता है। धर्म अथवा भक्ति के नाम पर बड़े-बड़े संगीत समारोह होते हैं, जिनमें अत्यन्त भीड़ इकट्ठी होती है। पर, कोई कह सकता है कि भीड़ में भगवान् मिल जाँयगे ? यदि नहीं, तो उन आयोजनों से मनुष्य का पारलौकिक लाभ क्या है।

पहले कभी बड़े-बड़े योगाभ्यासी थे, वे सदा योग-साधन करते और मन को बाह्य विषयों से खींचकर अन्तर्मुखी करने का प्रयत्न करते रहते। उनमें से अनेकों अपनी साधना में सफलता पाकर आत्म-लाभ किया और इस संसार सागर से पार हो गये। वे परोपकारी भी थे। स्वयं अपना परलोक बनाते और दूसरों को भी उसकी प्रेरणा और शिक्षा देते थे।

वर्तमान समय में अभ्यास रूपी परिश्रम करने वाले साधकों की कमी है। आज ऐसे साधक अधिक हैं जो दिखावे के लिये साधना करते और भीतर से अपने यश और वैभव की कामना करते रहते हैं। आप देखेंगे कि ऐसे लोगों के पास ठाठ-बाट, जमीन, जायदाद, धन-वैभव की कमी नहीं है। हजारों चेले और लाखों अनुयायी हैं, जो उनके वैभव के भुलावे में पड़े हुए हैं।

उन भोले लोगों को कोई बताये कि यदि ईश्वर तक पहुँचने की इच्छा है तो किसी सद्गुरु को खोजकर उससे आन्तरिक नाम प्राप्त करो। वह नाम जो तुम्हारे ही भीतर से निरन्तर निकल रहा है और जिसकी तुम्हीं को खबर नहीं है। बाह्य शब्द भी आत्मा के फैले हुए भागों को एकत्र करने में कुछ सहायक तो हो सकता है, किन्तु आन्तरिक मण्डलों पर ले जाने में समर्थ नहीं होता। इसमें तो समर्थ वही आन्तरिक ध्वनि हो सकती है जो कण-कण में व्याप्त हो रही है। उसके

अभ्यास के बिना मनुष्य विषयों के फन्दे से मुक्त नहीं हो सकता और बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है।

आन्तरिक ध्वनि क्या है?

यद्यपि समस्त धर्म ग्रन्थ नाम, ध्वनि, शब्द या नाद का वर्णन करते हैं। परन्तु जो ध्वनि भीतर से निकल रही है, वही परमात्मा की ध्वनि है। यही अनहद ध्वनि, दिव्य वाणी अथवा उद्गीथ कहलाती है। सिख इसी को सच, धुनि या गुरुबानी आदि कहते हैं।

बाहरी शब्द या ध्वनि नष्ट हो जाती है, वह अमर नहीं मानी जाती। कुछ लोग शब्द को अमर कहते हैं, किन्तु जो विषयों में फँसाये, वह अमर कैसा? विषय नाशवान हैं उनका सहायक भी नाशवान ही होगा।

आन्तरित धुन अमर है, वह कभी नष्ट नहीं होती, इसलिए आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध सदैव रहता है। अभ्यास करने वाले को आरम्भ में यह बहुत धीमी सुनाई देती है, किन्तु अभ्यास करते-करते क्रमश: स्पष्ट और तीव्र होती जाती है। उसका मुख्य कारण यह है कि अभ्यास करते-करते चैतन्यता में वृद्धि होती जाती है और ज्यों-ज्यों चेतना बढ़ती है त्यों-त्यों भीतरी शब्द भी प्रखर होता जाता है।

साधारण मनुष्य विषय-वासना में अत्यधिक लीन रहने के कारण उस भीतरी आवाज को सुनने में समर्थ नहीं होता। इसीलिए उसे किसी सद्गुरु की अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्योंकि सद्गुरु उसमें

अभ्यस्त और दक्ष होने के कारण जो ज्ञान-दीक्षा देते हैं, वही आत्मिक उन्नति का परम साधन है। साधारण भाषा में उस दीक्षा को हम नाम-दीक्षा या शब्द-दीक्षा भी कह सकते हैं।

समस्त विश्व में यह ध्वनि निरन्तर गूँजती रहती है। उसे सुनने के लिए आन्तरिक कानों को खोलने की आवश्यकता है। ध्यान के द्वारा उसका अभ्यास हो सकता है। यदि निरन्तर उसे सुनने का अभ्यास किया जाय तो सफलता मिलना कुछ कठिन नहीं। हाँ, अभ्यास में समय तो लगेगा ही, कोई हथेली पर सरसों जमाना चाहे तो कैसे जम सकती है? परमात्मा के मार्ग में तो जल्दबाजी छोड़कर स्थिर चित्त और सच्ची प्रीति के साथ ही बढ़ना होता है।

सुरत शब्द योग

सच्चा ज्ञान वह है जो अनुभव में आ गया हो, सुना-सुनाया ज्ञान कभी सच्चा नहीं हो सकता। वस्तुतः सन्त-महात्माओं को जो ज्ञान होता है, वह उनका अपना, अनुभव जन्य है, वे किसी से सुनकर या पढ़कर प्राप्त नहीं करते।

जिनके मन में आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो, उन्हें ऐसे ही सन्त-महात्माओं का आश्रय प्राप्त करना चाहिए। उन महात्माओं से ही साधकों को सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। सच्चे शब्द का ज्ञान वह करा सकते हैं। गुरु अमरदासजी का कहना है—

नउ दरि ठाके धावतु रहाए,
दसवै निज थरि वासा पाए।
आथं अनहद सबद बजै दिन राती,
गुरमती सबद सुणावणिआ ॥

अर्थात्-सन्तजन ही वह ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा को नवद्वारों से समेट कर दोनों आँखों के पीछे वाले दसवें केन्द्र पर ले आने में समर्थ होता है। जब आत्मा अपने इस केन्द्र पर पहुंच जाती है, तब यहीं से आन्तरिक मण्डलों में प्रविष्ट होने लगती है। तब नेत्रों के दोनों तिलों से अपने अस्तित्व को समेट कर वह आत्मा अनहद शब्द को पकड़ने लगती है। तभी उसे उन आन्तरिक मण्डल में विभिन्न प्रकार की ज्योतियों के दर्शन होते हैं। उन्हें देखती हुई आत्मा उसी शब्द के लक्ष्य पर सहस्रार में जा पहुँचती है। यह आत्मा की प्रथम मंजिल हुई।

अब अगली यात्रा में त्रिकुटी, पारब्रह्म भ्रमर गुहा आदि स्थान आते हैं, जहाँ दिव्य एवं तीव्र अनहद ध्वनि को सुनती हुई तथा ज्योति के दर्शन करती हुई शब्द ब्रह्म को प्राप्त कर लेती और उसी में लीन हो जाती है।

आत्मा को सुरत भी कहते हैं। जब आत्मा परमात्मा के ध्वन्यात्मक नाम शब्द के साथ मिलती योग करती) है, तब इस साधना की वह अवस्था 'सुरत शब्द योग' कहलाती है।

शब्द ही आत्मा का सनातन श्रोत है। जिसे सुनकर आत्मा उसकी ओर आकर्षित होती और उधर ही खिची चली जाती है। वस्तुतः यह शब्द ध्वनि ही वह अमरनाद है, जो कि भौतिक नहीं, आत्मिक तथा अविनाशी है। इसका सुनना केवल आत्मा के द्वारा ही सम्भव है, अन्य किसी साधन से नहीं। परन्तु शब्द का आत्मा के साथ आत्यान्तक एकाकार ही उसे सुरत शब्द योग की संज्ञा दे सकता है।

योगिजनों ने नेती, धौति आदि षट्कर्मों और योग के अष्टांगों का जो निर्देश दिया है, वह साधारण मनुष्यों के वश की बात नहीं। उनके अभ्यास में बहुत समय लगता और कष्ट भी अधिक होता है। वे अपनी क्रियाओं के द्वारा जिस उपलब्धि का अर्जन एक लम्बी अवधि में कर पाते हैं, उतनी उपलब्धि सुरत शब्द योग का अभ्यासी थोड़े समय में ही बिना कष्ट के कर लेता है।

योगियों ने जिन षट्चक्रों की साधना का विधान किया है, वह भी बहुत कष्ट साध्य है। हर कोई उसे कर भी नहीं सकता। कोई-कोई साधक ही षट्चक्र-वेधन में सफल हो पाते हैं। जब कि यह चक्र आत्मा के केन्द्र के नीचे ही विद्यमान है। जो लोग आत्मोन्नति के मार्ग, पर बढ़ना चाहते हैं, वे इन चक्रों के वेधन में होने वाले कष्टों से बचने के लिए इस योग का आश्रय ले सकते हैं, जो आत्मा के केन्द्र से नीचे के भाग को छोड़कर केन्द्र भाग से ही आरम्भ होता है। यही नवद्वारों के ऊपर चढ़कर प्राप्त होने वाली दसवीं गली है।

नवद्वार विषयों में डालने वाले हैं। जो मनुष्य इस कूप मण्डल में जा पड़ा, उसका निकलना बहुत ही कठिन है। वह तो तभी निकल सकता है, जब सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त करके शब्द योग का आश्रय ले। वह शब्द योग बाह्य नहीं, आत्मिक ही होना चाहिए। आन्तरिक शब्द योग वाह्य नहीं, आत्मिक ही होना चाहिए। आन्तरिक शब्द मन के कलमषों को धोकर उसे निर्मल बनाना और बाह्य विषयों से खींचकर ऊपर उठा लेता है।

नव द्वारो से निकल कर दसवीं गली में पहुँची हुई आत्मा अनहद शब्द का दिव्य संगीत सुनती हुई उसी में निमग्न हो जाती है। यहाँ निरन्तर अमृत की वर्षा होती रहती है। इसी स्थान को शिव का तीसरा नेत्र या तीसरा तिल भी कहते हैं।

शब्द परब्रह्म है, वह सदा ही विद्यमान रहता है। सृष्टि से पहिले भी था और प्रलय के बाद भी विद्यमान रहेगा। काल उस पर कोई प्रभाव नहीं है। वह इतना सहज, स्वाभाविक और व्यापक है कि न तो उसमें परिवर्तन आ सकता है और न उसे सीमित किया जा सकता है।

आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध भी शाश्वत है। इसीलिए वह आत्मा के लिए आकर्षण का केन्द्र भी है। मनुष्य जब तक उससे अनभिज्ञ रहता है, तब अपने आत्मा को उसकी ओर प्रेरित नहीं कर सकता, किन्तु जब गुरु प्रसाद से उसे उसके विषय में जानकारी हो जाती है, तब वह आत्मा का शब्द के साथ सम्पर्क कराने में सफल हो जाता है।

आत्मा का शब्द के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण उससे मिलने में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। केवल सामयिक साधनों से ही उसके योग में सिद्धि मिल जाती है। इसलिये आत्मिक लाभ की दृष्टि से इसका साधन अवश्य करना चाहिए।

योग की अनेक विधियां हैं समस्त योगों का उद्देश्य एक ही है—परमात्मा की प्राप्ति। षट्कर्मों द्वारा शरीर की शुद्धि तथा यम-नियमों द्वारा शरीर और मन दोनों की शुद्धि होती है। आसन द्वारा किसी स्थिति विशेष में बहुत समय तक रुकने का अभ्यास दृढ़ होता है तो प्राणायाम आदि का अभ्यास प्राण को सबल बना कर स्वास्थ्य लाभ कराता है।

प्राण की प्रखरता से ही मन को वश में किया जाता है। प्रत्याहार विधि चित्त वृत्ति को अन्तर्मुखी बना देती है। धारणा भी ध्यान का पूर्ण रूप होने के कारण ध्यान में सहायक होती है। ध्यान की दृढ़ता से समाधि की अवस्था में पहुँचा जा सकता है।

योग की उक्त क्रियाएँ कुण्डलिनी-जागरण और षटचक्र-वेधन में भी सहायक होती है। किन्तु यह सभी क्रियाएं कष्टकर तथा दुःसाध्य हैं।

अनेक साधक इन्हें अधूरी छोड़कर ही हट जाते हैं। कुन्डलिनी का सम्बन्ध पिण्ड के चक्रों से ही है और वह जागने पर उन्हीं का वेधन करती है।

ब्रह्माण्ड में भी छः चक्र ही हैं, जिनका प्रतिबिम्ब अण्ड में है, जब कि अण्ड के षट्चक्रों का प्रतिबिम्ब पिण्ड में रहता है। शरीरस्थ चक्र प्रतिबिम्ब के भी प्रतिबिम्ब हैं, इसलिए उनका कोई विशेष महत्व, उन साधकों के लिए नहीं है, जो उस साधना से ऊपर पहुंच चुके हैं।

सुरत शब्द योग की साधना का आरम्भ नीचे के चक्रों से नहीं होता। नवद्वारों को छोड़कर और सिमट कर आती हुई आत्मा उसी दसवीं गली में पहुँचती है, जहाँ भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र की स्थिति कही गई है। इस योग के शब्दाभ्यास का आरम्भ आज्ञाचक्र से ही होता है।

इससे स्पष्ट है कि इस योग के आचार्य अपने लक्ष्य स्थान से नीचे जाना व्यर्थ समझते हैं। वे भौंहो से नीचे के भाग वाले चक्रों में कोई रुचि नहीं लेते क्योंकि उस भाग में मन का शासन चलता है, आत्मा का नहीं और उसके नीचे तो मन के ही सुन्दर लोक विद्यमान है। तब वहाँ लौकिकता ही लौकिकता के दर्शन भी स्वाभाविक ही हैं और उसके द्वारा किसी प्रकार की अलौकिक उपलब्धि हो नहीं सकती।

समस्त योग-साधनों का एक अन्य सार अनेक योग-शास्त्रियों ने बताया है। सर्व प्रथम सद्गुरु की आज्ञा लेकर आत्मा के कानों से (आन्तरिक क्षेत्रों) से जिह्वा द्वारा नाम-स्मरण करना चाहिए। जब नाम-स्मरण में दृढ़ता आ जाय तब ध्यान का आश्रय लिया जाय।

यद्यपि ध्यान योग का एक अंग हैं, फिर भी अनेक विद्वान इस पृथक् से भी योग सत्ता बताते हैं। इसीलिए इसका हाम ध्यान दृढ़ होने लगता है तो आन्तरिक श्रोत्रों से भीतरी ध्वनि सुनाई देने लगती है।

इसकी सफलता कुछ अनिश्चित नहीं। साधक चाहे तो थोड़े-से समय में ही इस योग में सफल हो सकता है। इसे करने में आयु का भी कोई प्रतिबन्ध नहीं, बालक, वृद्ध, युवक, गृहस्थ, गृह-त्यागी या ब्रह्मचारी आदि कोई भी कर सकता है।

इसके साधन में किसी प्रकार कोई कठिनाई भी नहीं होती। यदि गुरु से ज्ञान प्राप्त कर लिया हो तो फिर थोड़े-से अभ्यास में ही साधक बहुत कुछ प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

सफलता का मार्ग—

सफलता का यही एक मार्ग है कि आत्मा को शब्द के ध्यान में लगाया जाय, उससे उसका सम्बन्ध करा दिया जाय। इसमें कुछ परिश्रम है, न कुछ कष्ट तथा किसी प्रकार का व्यय या शारीरिक क्षय भी नहीं है।

मनुष्य का शरीर मिलना कोई साधारण बात नहीं। जब कोई बड़ा पुण्य उदय होता है, तब इसकी प्राप्ति हो पाती है। परमात्मा इस योनि में जन्म देकर प्राणी को इस योग्य बनाता है कि वह सँभल सके और अपना एहिलोक तथा परलोक दोनों ही बना सके।

शरीर भी एक प्रकार का खजाना है। इसमें जो कुछ है, वह अन्यत्र नहीं मिलेगा। एक ही स्थान पर समस्त ऐश्वर्य संग्रहीत है। कबीर कहते हैं—

कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।

अर्थात्—इसी शरीर रूपी भवन में प्राण प्यारा मोजूद है, यदि दर्शन करना चाहे तो कर ले।

वस्तुतः शरीर एक प्रकार का भवन ही है। इसी में आत्मा रूप स्त्री परमात्मा रूप पति दोनों विद्यमान है। स्वामी भी भीतर और सेविका भी भीतर फिर भी परस्पर में मिलाप न हो यह कम आश्चर्य

की बात नहीं यदि देखा जाय तो न जाने कितने युग हो गये इन्हें साथ-साथ रहते, किन्तु भेंट, बार्तालाप का अवसर ही नहीं।

यह महल चार खण्डों में बना है—पिण्ड, अण्ड, ब्रह्माण्ड और सचखण्ड (सत्य) इनमें से सचखण्ड सत्य तथा अविनाशी है, उसका नाश कभी नहीं हो सकता। जैसे आकाशगामी सूर्य का पानी में प्रतिविम्ब पड़ता है, किन्तु वह प्रतिबिम्ब मात्र ही तो है, सूर्य नहीं है। इसलिये उसमें सूर्य के समान गर्मी भी नहीं हो सकती।

ब्रह्माण्ड के छः चक्र है, उनका प्रतिबिम्ब अण्ड पर पड़ने से वहाँ भी छः चक्र बने हुए हैं। अण्ड के उन षट्चक्र रूप प्रतिबिम्बों का प्रतिबिम्ब पिण्ड के छः चक्रों को प्रतिबिम्बित करता है। मनुष्य शरीर में ही अण्ड पिण्ड और ब्रह्माण्ड तीनों विद्यमान है। शरीर नेत्रों से नीचे का भाग पिण्ड और नेत्रों से ऊपर सहस्रार तक का भाग अण्ड है। ब्रह्माण्ड की स्थिति इससे ऊपर है।

मन बाह्य विषयों में भ्रमता है। उसे अन्तर्मुखी करने के लिये योगियों को बहुत कुछ करना होता है। धौति क्रिया द्वारा अंतड़ियों में लगे हुए मल को साफ करते हैं। वस्ति कर्म में मल मार्ग से पानी चढ़ाकर आँतों का मल निकाल देते हैं। वस्तुतः यह एन्मिा का ही एक रूप है। नेति कर्म में नासा छिद्र में मोम लगी रेशमी डोरी चढ़ा-कर मुख से निकालते हैं, जिससे वहाँ भी सफाई हो जाती है।

चक्र-वेधन की क्रिया का आरम्भ मूलाधार से होता है। यह चक्र पृथिवी तत्व वाला तथा गुदा से सम्बन्धित है इसके स्वामी गणेश हैं। इसके वेधन-कर्म में मन्त्र जप किया जाता है। यहां चार दल का कमल है। उससे ऊपर छः दल का कमल है। इसमें जल तत्व है तथा स्वामी ब्रह्मा और सावित्री हैं। संसार की मूल उत्पत्ति का स्थान यही है। यही कुण्डलिनी नाड़ी है। इसमें चित्त लगाने पर ओंकार का जाप किया जाता है।

इससे ऊपर नाभि में आठ दल का कमल है। इस श्वेत रंग के चक्र के स्वामी विष्णु हैं। इससे ऊपर हृदय चक्र है, जो कि बारह दल का है। इसके स्वामी विष्णु हैं। इससे भी ऊपर कण्ठ में सोलह दल का कमल है, जिसमें देवी शक्ति विद्यमान है।

माया दो प्रकार की है—विद्या और अविद्या। प्रथम प्रकार की माया शुद्ध और दूसरे प्रकार की अशुद्ध या मलीन है। विद्या का निवास आज्ञा चक्र से ऊपर के भाग में और अविद्या का उससे नीचे के भाग में है।

आँखों से ऊपर जो दल का कमल है, वहीं जीवात्मा की, तथा पिण्डी रूप मन का निवास है। यहीं से आत्मा और मन की दोनों धाराएँ मिलकर प्रवाहित होती और समूचे शरीर को क्रियाशील बना देती हैं। यही आज्ञा चक्र नाम से छठा कमल विद्यमान है, जिसमें सिद्धियों और शक्तियों का भण्डार भरा पड़ा है। किन्तु सच्ची आत्मिक शान्ति इससे भी ऊपर बढ़ने में है।

नादानुसन्धान और मन का लय

योगिराज आदिनाथ ने मन को लय करने के सवा करोड़ उपायों का उपदेश किया था, उनमें नादानुसन्धान का भी समावेश था। हठ योगप्रदीपिका में इस विषय में कहा हैं—

श्री आदिनाथेन सपाद कोटिलयं प्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानमेकमेव मन्यामहे मुख्यतम लयानाम्॥

अर्थात्—श्रीआदिनाथ ने लय के जो सवा करोड़ उपाय कहे हैं, उन सभी में मैं तो एकमात्र नादानुसन्धान को ही मुख्यतम समझता हूं।

नादानुसन्धान की परिणिति में सुषुम्ना नाड़ी का योग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि कुन्डलिनी शक्ति जब जाग्रत होती हैं, तब वह सुषुम्ना में ही प्रविष्ट होकर षटचक्रों का भेदन करने में समर्थ होती है और तभी वह ब्रह्मरन्ध में पहुँचकर शिव में साकार कर साधक को उन्मनी अवस्था की प्राप्ति कराती है। नादयोग का अभ्यासी, अन्य विधियों की अपेक्षा इस विधि से कुन्डलिनी को जाग्रत करने में शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है।

हठयोग प्रदीपिका में नादयोग की विधि भी कही गई है। उसके अनुसार नादयोग का अभ्यास करने के लिये साधक को मुक्तासन से बैठकर शाम्भवी मुद्रा लगानी चाहिये। किन्तु अनेक अनुभवी विद्वान् ऐसा मानते हैं कि साधक को जिस स्थिति में बैठने से सुख मिले उसी में बैठना चाहिये। मुद्रा आदि भी न लग सके तो कोई बात नहीं। शरीर को सीधा रखे और यथा सम्भव सहज भाव से बैठे शरीर न तो ढीला रहे और न तना हुआ ही।

नाद योग के अभ्यास में कान, नेत्र और नासिका के दोनों छेद तथा मुख का भी निरोध करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि नेत्रों का मूँद ले, कानों को बन्द कहने के लिये अंगुलियाँ लगा ले। नासा छिद्रों के अवरोध का तात्पर्य श्वास रोकने से है। उस समय जितनी देर का अभ्यास हो, कुम्भक करे। मुख को बन्द कर ले यदि कुम्भक अधिक देर न हो सके तो उतना ही करे जितना किया जा सके। फिर श्वास-नि:श्वास लेते छोड़ते हुए भी नाद का अनुसन्धान किया जा सकता है।

उक्त प्रकार से किया जाने वाला अभ्यास मन को बाहर से खींच कर अन्तर्मुखी कर लेता। नादबिन्दूयनिषत् ने इस विषय में निम्नमत व्यक्त किया है—

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत्॥

अर्थात्—इस प्रकार किया जाने वाला नाद का अभ्यास बाह्य ध्वनियों को ढक लेता और अकार, मकार रूप दोनों पक्षों को जीतकर प्रणव पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। इससे उसे तुर्यपद की प्राप्ति हो जाती है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है—'ततः प्रातिभ श्रावण जायन्ते' अर्थात् 'उससे प्रतिभा (त्रिकाल का) ज्ञान और दूरस्थ शब्द सुनने की सिद्धि हो जाती है।' उसका मुख्य कारण यही है कि श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और मुख के अवरोध द्वारा इन्द्रियों का निरोध होता है तथा चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है, जिससे सुषुम्ना में स्पष्ट नाद सुनाई देने लगता है'।

परन्तु योग रसायनकार के मत में समस्त छिद्रों को रोकना आवश्यक नहीं है, साधना का उद्देश्य श्रोत्रों का अवरोध करने से ही पूरा हो सकता है यथा—

पदमासनं समास्थाय स्वस्तिक वा यथा सुखम्।
कर्णरन्ध्रयुगं पश्चाद गुलिभ्यां विरोधयेत॥

अर्थात्—या तो पद्मासन से बैठे अथवा स्वस्तिकासन से सुख पूर्वक बैठे और अंगुलियों से दोनों कर्ण रन्ध्रों को रोक कर नादानुसन्धान करे।

योग रसायन में ही एक और निर्देश भी स्पष्ट रूप से मिलता है, जिससे उसमें सरलता और प्रखरता दोनों की ही वृद्धि होती है—

कर्णयोस्त्वेकतानेन राधेनं नैव कारयेत्।
त्यक्त्वा त्यक्त्वांगुलिमध्ये नादाभ्यास समाचरेत्॥

अर्थात्—निरन्तर दोनों कानों को बन्द नहीं किये रहे, वरन् बीच-बीच में अंगुलियों को छोड़ते-बन्द करते हुए ही नाद का अभ्यास उचित है।

परन्तु, नेत्र बन्द करने से चित्त में अधिक एकाग्रता आ सकती है। इसीलिए योग रसायनकार कहते हैं—

निमील्य नयने चित्तं कृत्वेकाग्रमनन्य धीः।
श्रृणुभाद्दाक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम् ॥

अर्थात्—नेत्रों को बन्द कर चित्त को एकाग्र बनावे तथा बुद्धि को उपास्य (नाद ब्रह्म) में अनन्यतायुक्त करे और साथ ही दाँये कान से आन्तरिक नाद सुनने का अभ्यास करे।

नाद श्रवण का भी अभ्यास करना होता। कोई समझे कि आरंभ में कानों को बन्द कर लेने मात्र से ही नाद सुनाई देने में सफलता मिल जाती हो तो यह सम्भव नहीं क्योंकि बिना अभ्यास के किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल पाती।

वैसे तो, आप कभी भी दोनों कानों को बन्द करके भीतरी शब्द को सुनने की चेष्टा करें तो बहुत हल्की-सी कुछ ध्वनि सुनाई देने लगती है। बाद में अभ्यास से वह ध्वनि तीव्र होती जाती हैं। हठयोग प्रदीपिका में नाद की अनेक अवस्थाओं का इस प्रकार वर्णन किया है—

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे बर्धमाने श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मकः ॥
आदौ जलधि जीमूत भेरीझर्झर सम्भवाः।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥
अन्ते तु किंकिणीवंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः।
इति नाना विधा नादा श्रूयन्ते देहमध्यगा ॥

अर्थात्—प्रथम अभ्यास में साधक को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं और फिर अभ्यास के बढ़ने पर सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुनने में आ जाते हैं। प्रारम्भ में समुद्र, फिर मेघ, फिर भेरी और झर्झरी के, मध्य में मर्दल, शंख तथा घंटा के एवं अन्त में किंकिणी, वंशी, वीणा और भौरों के गुंजन प्रभृति नाद सुनाई देते हैं।

परन्तु योगरसायनकार के मत में इन सब के लिए बड़े अभ्यास की अपेक्षा है, जिसमें सरलता लाने के लिये धैर्य का सहारा लिया जाय। यथा—

श्रूयते प्रथमाभ्यासे ध्वनिर्नादस्य मिश्रितः।
ततोभ्यासे स्थिरी भूते श्रूयते तु पृथक् पृथक ॥

अर्थात्—प्रथम अभ्यास के समय ध्वनि नाद को मिश्रित रूप ही सुने और जब अभ्यास दृढ़ हो जाए तो पृथक-पृथक रूप से सुनने का प्रयत्न करे।

शब्द के दो रूप हैं—अक्षर और नाद। अक्षरों के योग से मंत्र बनता है और जब मंत्र की सिद्धि का अभ्यास किया जाता है, तब उसे मन्त्रयोग कहते हैं। इसी प्रकार नाद के अनुसन्धान का अभ्यास नाद योग कहलाता है।

किन्तु अक्षर योग और नादयोग की प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर है। मन्त्र का जप हो अथवा स्तोत्र रूप से उच्चारण, शब्द का सहारा लेना ही होगा। जो लोग मानसिक रूप से जप करते हैं, उनको भी जप के साथ आन्तरिक ध्वनि की अपेक्षा रहती है। किन्तु नादयोग में अक्षरों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। उसमें तो आन्तरिक ध्वनियों के सुनने का ही अभ्यास किया जाता है।

नाद योग के अभ्यास द्वारा सूक्ष्म जगत् की समस्त हलचलों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। स्थूल जगत् में चलती हुई ध्वनि-

धाराओं से उसका साधक अधिक ऊपर उठ जाता है। उसे उत्तरोत्तर दिव्य सामर्थ्यों की प्राप्ति होने लगती है। क्योंकि नाद समस्त विद्याओं और लोका को उत्पन्न करने वाला है। इसलिये इसे उद्भव शक्ति भी कहते हैं। यथा—'नादाच्छक्ति समुद्भवः' (वायबीय संहिता) अर्थात् 'नाद के द्वारा शक्ति का उद्भव होता है।'

यदि नाद का वास्तविक रूप में अनुभव हो जाय तो फिर किसी कार्य के अधूरे रहने या किसी इच्छा के अपूर्ण रह जाने का भी प्रश्न नहीं रहता। श्रुति का कथन है—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्टु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च काम ध्रुव भवति' अर्थात् 'एक शब्द मात्र की तात्विक रूप से अनुभूति हो जाय तो सभी कामनाएं स्वतः निश्चित रूप से पूर्ण हो जाती है।

जो लोग नादाभ्यास का आनन्द ले चुके हैं, उन्हें फिर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यथा—

मकरन्दं पिवन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते॥

अर्थात्—जैसे जब तक भौंरा मकरन्द का पान करता रहता है तब तक उसे पुष्प की गन्ध की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही नाद में आसक्त हुआ चित्र भी विषयों की आकांक्षा नहीं करता।

अनेक मनीषियों ने अक्षरमय मन्त्रों के प्रति उदासीनता व्यक्ति की है और वे कहते हैं कि शब्द गुन्थन के ही आधार पर मन्त्रों की सामर्थ्य समझी जाती है तथा उसमें वाक् तत्व की ही प्रमुखता है। कौत्स मुनि ने भी मन्त्र के अक्षरों की उपेक्षा ही की थी।

और सूक्ष्म के भेद से वाणी के रूप किये जाते हैं—(१) वाक् और (२) परावाक्। वाक् शक्ति यद्यपि स्वयं में ही असीम शक्ति

वाली है, तो भी परवाक् की महिमा उससे भी अधिक है क्योंकि परा-वाक् को महर्षियों ने शब्द ब्रह्म का हृदय बताया है। श्रुति ने उसका स्तवन करते हुए कहा है—

देवी वाचमजनयन्त देवास्ता
विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्त्रेष्णमूर्ग दुहाना
धेनुर्वागस्मानुपभुष्टुवैंतु ॥

अर्थात्—परावाक् देवी देवताओं को उत्पन्न करने वाली विश्व स्वरूपिणी तथा मन्त्रात्मिका है। इसी कामधेनु परावाक् की शक्ति हमें जीवन देती है, जिसकी कृपा से ही हम बोलते और ज्ञान प्राप्त करते है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार परावाक् मर्म स्पर्शी तथा सोते हुए को जगाने वाली है। समस्त सिद्धियों, उच्च लोकों अथवा मोक्ष का आधार भी वही है। उसी में देवताओं के अनुग्रह और वरदान का भण्डार भरा है।

और यह वाणी नाद में ही समाविष्ट है। यदि नाद नहीं तो वाणी भी निरर्थक और सत्वहीन। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार नाद में जो शक्ति है, उसके कारण वह अद्वितीय है, उसकी समता कोई नहीं कर सकता। संसार में जो कुछ भी बाह्य या आन्तरिक रूप से सुना जाता है, वह सब नाद ही है। यथा—

तावदाकाश संकल्पो यावच्छब्दः प्रबर्तते।
निःशब्द तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते॥
यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः॥

अर्थात्—जब तक शब्दों का प्रबर्तन होता है तभी तक आकाश की कल्पना होती है और शब्द से निःशब्द परब्रह्म का मान होना कहा जाता

है, वह सब शक्ति ही हैं। जिसमें तत्वों का लय होता हो, वही 'निराकार परमेश्वर है।

ब्रह्म के दो रूप कहे जाते हैं—(१) नादब्रह्म और (२) पर ब्रह्म। प्रथम रूप व्यक्त और दूसरा अव्यक्त है। नाद की उपासना में परब्रह्म की उपासना स्वतः होजाती है। अग्नि पुराण का मत है—

आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञान तथोच्यते।
शब्दब्रह्माऽगमयजं परंब्रहम विवेकजम्॥

अर्थात्—वेदादि शास्त्रों ने ब्रह्म का दो प्रकार से विवेचन किया है—एक शब्द ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शास्त्रादि के द्वारा शब्दब्रह्म की तथा विवेक के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः शब्द ब्रह्म और परब्रह्म में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। भागवत के अनुसार भी 'शब्दब्रह्म परब्रह्म द्वाभ्यां शाश्वती तनुः अर्थात् 'शब्दब्रह्म और परब्रह्म दोनों ही उस सनातन ब्रह्म के अभिन्न देह हैं।'

यह दिखाई देने वाला समस्त भेद भ्रम से ही है। इसे नष्ट करने का उपाय निर्देश करता हुआ शास्त्र कहता है—

शब्दार्थं प्रत्ययानामित रेतराभ्यासात्।
संकरस्तं प्रतिभाग संयनात् सर्वं ज्ञानम्॥

अर्थात् - जब शब्दार्थ का अभ्यास और ज्ञान हो जाता है तभी अभेद का भान होता है तथा जीवों के शब्दों में निहित भावनाएँ भी तभी जानी जा सकती हैं।

शब्द ब्रह्मकी साधनामें वाक् शक्ति का सहयोग उस समय अपेक्षित होता है, जब उसमें संगीत की दोनों विधाओं—गायन और वादन को माध्यम बनाया जाय। बहुत बार जिह्वा से निकलने वाले नपे तुले, संयत स्वर आश्चर्यजनक चमत्कार प्रदर्षित करते हैं। उनसे समस्त

वातावरण में एक प्रकार की शक्तिशाली तरंगे उठती हैं। जो कि मन मानस को भी तरङ्गित कर देती है।

प्रत्येक मन-मानस में कुछ न कुछ विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ विद्यमान रहती हैं, जिन्हें वाक् शक्ति की सहायता द्वारा तथा संगीत के माध्यम से दूसरों के समक्ष उपस्थित किया जाता है। उसे सुनने वाले व्यक्ति भी भावाभिभूत हुए उन विचार-तरङ्गों में डूब जाते हैं। किन्तु यह तभी सम्भव है जब उसमें वाद्य के साथ विचारों की भी उत्कृष्टता हो।

निःशब्द (अक्षर-रहित या मौन) संगीत भी जब स्वर-ताल के साथ निर्गम होता है, तब एक प्रकार के आनन्द रस की अनुभूति करा सकता है। बहुत बार देखते हैं कि गायन-रहित वाद्य भी जीवों को अपनी ओर खींचे बिना नहीं रहते। भगवान् कृष्ण जब वंशी बजाते थे, तब किसी प्रकार का गाना नहीं गाते थे, तो भी उनके वंशीवादन मात्र से संसार विमोहित हो जाता था। गोपियाँ ही नहीं, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी उस ध्वनि के समक्ष समर्पित हो जाते थे।

पहिले कहा जा चुका है कि नाद अनश्वर है, वह सदैव गूँजता रहता है। कानों को बन्द करने पर जो शब्द सुनाई देता है, वही सत्य है, वही शाश्वत है। योगिजन उसी का सहारा लेकर नाद योग की साधना में लगते हैं।

हठयोग प्रदीपिका में नाद योग की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है--(१) आरम्भिक अवस्था, (२) घटावस्था, (३) परिचयावस्था, और (४) निष्पत्ति अवस्था। योगाभ्यासी को इन चारों अवस्थाओं की प्राप्ति उत्तरोत्तर होती है।

नाद की आरम्भिक अवस्था का वर्णन करते हुए हठयोग में कहा गया है कि 'ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होने पर शून्य में आनन्द की उत्पत्ति होती है तथा शरीर में अद्भुत प्रकार की क्वणक् अनाहत ध्वनि सुनाई

देती है और शरीर में दिव्यता प्रकट होकर दिव्य गन्ध उत्पन्न हो जाती है। शरीर पूर्ण रूप से निरोग तथा सम्पूर्ण हृदय रूप और योग युक्त हो जाता है।

वस्तुत: नाद योग का अभ्यास करने वाले साधक को जब आरम्भिक अवस्था की प्राप्ति होती है, तब यदि उसके शरीर में कोई रोग हो तो वह स्वत: ठीक होजाता है और भविष्य में भी कोई रोग नहीं हो पाता उसमें दिव्य गन्ध उत्पन्न होजाती है और वह अपने में ही दिव्यता का अनुभव करने लगता है।

किन्तु आरम्भिक अवस्था का यह अभिप्राय नहीं है कि कोई नौसिखिया मनुष्य अभ्यास का आरम्भ करे तो उसे तुरन्त ही उक्त प्रकार की अनुभूतियाँ होने लगें। क्योंकि अभ्यास में कुछ दृढ़ता आने पर ही नाद योग की आरम्भिक अवस्था का आरम्भ होता है।

नादयोग की दूसरी अवस्था (घटावस्था) में मुख्य प्राण अपने साथ अपान, नाद और विन्दु को भी मिलाकर कण्ठदेश में अवस्थित मध्य चक्र में जा पहुंचता है। उस समय प्राण की वह गति मध्य नाड़ी के मार्ग से होती है। ऐसा होने पर योगी रोग-रहित एवं स्वस्थ तो रहता ही है, दिव्य रूप-लावण्य की भी उसे प्राप्ति होती है।

घटावस्था के अभ्यास काल में भी योगी को प्राणायाम परायण रहना चाहिए। उससे कण्ठ में विद्यमान विष्णु ग्रन्थि भी प्रभावित हो जाती है। उस ग्रन्थि का भेदन होने पर विमर्द नामक वाद्य विशेष का अथवा भेरी का कर्णप्रिय शब्द अति शून्य रूप कण्ठ प्रदेश में सुनाई देता है। वह शब्द इतना आनन्ददायक होता है कि योगी का चित्त उसी में रम जाता हैं।

वस्तुत: इस प्रकार के शब्द का सुनाई देना घटावस्था के अभ्यास की एक विशेष उपलब्धि है। यह शब्द परमानन्द की प्राप्ति का सूचक

होने के कारण योगी को अत्यन्त उल्लासमय बना देता और घटावस्था को भी सुदृढ़ता प्रदान करता है।

घटावस्था के सुदृढ़ होने पर भी अभ्यास करते रहने से परिचयावस्था का आरम्भ हो जाता है। इस अवस्था में साधक को मर्दल संज्ञक वाद्य विशेष की ध्वनि सुनाई देती हैं। साधक को चाहिए कि उस ध्वनि को पहिचानने का प्रयत्न करे और महाशून्य में वायु का संयम भी करे तो उसे सभी प्रकार की सिद्धि हो सकती है।

अभिप्राय यह है कि जब मर्दल संज्ञक वाद्य विशेष का शब्द भुनाई देने लगे, तब भौंहों के मध्य में जो आज्ञा चक्र का स्थान है, वही आकाश स्वरूप महाशून्य कहा जाता है। वह अणिमादि अष्टसिद्धियों का आश्रय स्थान भी है। यहाँ मुख्य प्राणवायु को स्थापित करे। यह स्थिति कुम्भक के द्वारा सम्पन्न हो सकती है।

ऐसा करने से चित्त में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न होकर दुःख, सन्ताप, भय, भूख, प्यास, निद्रा, रोग, बुढ़ापा आदि कुछ भी नहीं व्यापता और साधक को अणिमादि आठों सिद्धियाँ तथा समस्त ऐश्वर्यों की उपलब्धि सहज में ही होजाती है। उसके साथ ही मुख्य प्राण स्वयं ही रुद्रग्रन्थि का भेदन कर रुद्र के धाम रूप भौहों के मध्य (आज्ञाचक्र) में स्थित हो जाता है।

उसके पश्चात् नादयोग की निष्पत्ति अवस्था आती है, जिसमें मुख्य प्राण आज्ञाचक्र से भी ऊपर उठ कर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है उस समय साधक को वंशी और वीणा के शब्द सुनाई देते हैं। यह शब्द इतने आकर्षण होते हैं कि साधक चित्त उन्हीं में लीन हो जाता है, बाह्य संसार का उसे किञ्चित् भी ध्यान नहीं रहता।

वस्तुतः यह राजयोग की सर्वोच्च स्थिति है। जिस अवस्था में चित्त की अत्यन्त एकाग्रता हो जाय, वही राजयोग है। ऐसी अवस्था में साधक

को किसी भी अन्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता और वह निर्विचार समाधि में लीन हो जाता है।

नाद योग की निष्पत्ति अवस्था ही अन्तिम अवस्था है। इससे ऊपर कुछ नहीं है। जो साधक इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, उसमें ईश्वर के समान सामर्थ्य, शक्ति उत्पन्न होजाती हैं। वह समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न तथा सभी कार्यों में पूर्ण समर्थ हो जाता है।

निष्पत्ति अवस्था ही नादानुसन्धान की अन्तिम परिणिति है। अनेक साधु-सन्त इसी को योग की परम सिद्धि मानते हैं। यद्यपि नाद योग के अभ्यासी को आरम्भ से ही एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होने लगता है और फिर वह उसी में रम जाता है।

यद्यपि योगिजनों ने हठयोग को अत्यंत महत्वपूर्ण माना है। उसका अभ्यास करने वाले साधकों के लिए सभी प्रकार की सिद्धियाँ सहज ही हो जाती हैं, जिनके बल पर वह समस्त कार्यों को करने में समर्थ होता संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसे वह न कर सकता हो।

किन्तु हठयोग की साधना में साधक को बड़ा कष्ट उठाना होता है। उतना कष्ट अन्य किसी भी साधना-विधि में नहीं है। हठयोगियों का कथन है कि संसार में कष्ट के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हठयोग में नष्ट है तो आनन्द भी सबसे अधिक है। हठयोग का साधक वह सभी कुछ प्राप्त कर लेता है, जिसकी साधारण मनुष्य तो क्या, अन्य प्रकार के साधक तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

इतना सब होते हुए भी, बहुत कम व्यक्ति हठयोग के मार्ग को अपनाते हैं। जो अपनाते हैं, उनमें से भी बहुत-से मार्ग में ही साधना को छोड़ बैठते हैं। इसलिए अनेक विद्वान् अभी भी इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि भगवान् की उपासना को कोई सरल मार्ग निकल आये। यही कारण है कि कोई जप- साधना में लगा है तो कोई यज्ञादि कर्मों में ही अभीष्टपूर्ति देखता है। अनेक व्यक्ति भक्ति मार्ग के अनुयायी है

क्योंकि भक्तिमार्ग में कष्ट बहुत ही कम हैं। उस जैसी सरलता अन्य किसी साधना में नहीं देखी जाती।

हठयोग के प्रवर्तक योगिराज आदिनाथ ने भी इस विषय में बहुत अनुसन्धान किये और अन्त में उन्होंने 'नादयोग' के नाम से प्रयुक्त एक विशिष्ट योग-साधना को खोज निकाला, वह साधना हठयोग की अपेक्षा बहुत सरल और शीघ्र फल देने वाली है। श्री आधिनाथ का ही यह भी मत रहा है कि नाद योग के बिना हठयोग भी निरर्थक है। यह तथ्य हठयोग प्रदीपिका के ही निम्न उद्धरणों से सहज ही स्पष्ट हो जाता है—

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम।
लयोदभवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते॥
राजय गमलायन्तः केवलं हठकर्मिणः।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयास फल वर्जितान्॥

अर्थात्—अन्य कुछ भी हो या न हो (मुक्ति मिले या न मिले), नाद के अनुसन्धान में अखण्ड सुख है और लय से उत्पन्न होने वाला यह सुख राजयोग से ही प्राप्त होता है। राजयोग को न जान कर केवल हठयोग की क्रिया में ही लगे रहने वाले अभ्यासी के परिश्रम को में निष्फल समझता हूँ।

पहिले यह बताया जा चुका है कि राजयोग नादयोग की निष्पत्ति अवस्था सम्पन्न होने पर उपलब्ध हुई स्थिति को ही कहते हैं।

हठयोगकार ने राजयोग की प्राप्ति के एक सरल उपाय पर भी प्रकाश डाला है-

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम्।
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्प चेतसाम्॥
सद्यः प्रत्यय संधायो जायते नादजो लयः॥

अर्थात्—उन्मनी अवस्था और राजयोग के पद तक शीघ्र पहुँचने के लिए भौहों के मध्य में ध्यान करना ही मेरे मत में अल्पमति वालों

के लिए सरल उपाय है तथा नाद से उत्पन्न चित्त का यह शीघ्र ही प्रत्यय का संधान करने वाला होता है।

नादानुसन्धान की अन्तिम अवस्था (निष्पत्ति अवस्था) सिद्ध होने पर जो चित्त में एकाग्रता आती है उसी को लय कहते हैं। उसमें समाधि की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

घेरण्ड संहिता में राजयोग में उत्पन्न होने वाली समाधि की चर्चा करते हुए कहा गया हैं—

मनोमूर्च्छा समासाद्य मन आत्म नियोजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात ।।

अर्थात्—योगाभ्यासी साधक मनोमूर्च्छा कुम्भक करता हुआ मन को एकाग्र करके ब्रह्म में योजित करे। इस प्रकार परमात्मा के साथ समायोग होने को राजयोग समाधि कहते हैं।

महर्षि घेरण्ड ने मनोमूर्च्छा कुम्भक का रूप इस प्रकार बताया है—

मुखेन कुम्भक कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।
सन्त्यज्य विषयान्सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदम् ।।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ।।

अर्थात्—प्रथम मुख से कुम्भक करके मन को विषयों से हटा कर भौंहों के मध्य में स्थित आज्ञाचक्र में लगावे और इस पद्म में विद्यमान परमात्मा में लीन कर दे, यही सुखदायक मनोमूर्च्छा कुम्भक है। इस कुम्भक की सिद्धि से निश्चय ही अत्यन्त आनन्द की प्राप्ति होती है।

मूर्च्छा का अर्थ है बेहोशी, विशेषकर बाह्य विषयों से मन को मोड़ कर साध्य में योजित कर लेना इस क्रिया में कुम्भक द्वारा वायु को भीतर रोक कर मन को आज्ञाचक्र में प्रतिष्ठित किया जाता है। ऐसा करने पर साधक की बाह्य चेतना लुप्त हो जाती और बेहोशी जैसी स्थिति होजाती है।

पहिले बताया जा चुका है कि आज्ञा चक्र दोनों भौंहों के मध्य में स्थित है। वहीं रुद्र ग्रन्थि है, जिसका भेदन अक्षर वायु के द्वारा किया जाता है, यथा--रुद्रग्रन्थिभ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षर वायुना' (ब्रह्मविद्योपनिषत्) इसके अनुसार ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि तथा षटचक्र का भेदन करके कुण्डलिनी शक्ति ऊपर जाकर शिव से मिलती हैं। इस प्रक्रिया में आज्ञाचक्र में ध्याम करने का जो निर्देश है वह कुण्डलिनी जागरण के प्रयत्न की ओर ही विशेष रूप से है क्योंकि कुण्डलिनी जागरण में भी आज्ञाचक्र के ध्यान में परिपक्व होना ही सर्व प्रथम आवश्यक होता है।

और इस निष्पत्ति अवस्था रूप राजयोग समाधि के माहात्मय का वर्णन करते हुए योगी घेरण्ड कहते हैं।

इति ते कथितं चण्ड समाधि मुक्ति लक्षणम्।
राजयोगः समाधिः स्यादेकात्मन्येव साधनम् ॥
उन्मनी सहजावस्था सवचकार्थ वाचकाः ॥

अर्थात्—हे चण्ड ! इस प्रकार मैंने मुक्ति रूप जिस समाधि का वर्णन किया है, वह एक आत्मा में ध्यान करते हुए सहज रूप से हो जाती है, वही राजयोग समाधि कही जाती है। उन्मनी सहज अवस्था के प्राप्त होने पर जो भी समाधियाँ हों (जैसी भी मूर्च्छावस्था हो) वह राजयोग समाधि का ही लक्षण है।

इस समाधि के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए हठयोगप्रदीपिका में कहा है--

नादानुसन्धान समाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्।
आनन्दमेकं वचसाम्य गम्यं।
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥

अर्थात्--नाद के अनुसन्धान से उत्पन्न होने वाली समाधि अपने साधक योगीश्वरों के हृदयों में एक प्रकार के ऐसे आनन्द की सृष्टि या वृद्धि करती है, जिसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। उस आनन्द का अनुभव एकमात्र श्री गुरुनाथ ही करते हैं।

वस्तुतः नाद से उत्पन्न होने वाला आनन्द वणनातीत है। इसका अनुभव कोई बिरले अनुभवी सन्तों को और ज्ञानी गुरुओं को ही हो पाता है। इसीलिए इसके साधनाभ्यास की विधि अनुभवी सद्गुरु से सीखना श्रेयस्कर समझा जाता है, हठयोग प्रदीपिकाकार आगे कहते हैं--

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां य श्रृणोति ध्वनिं मुनिः।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यत्स्थिरपद व्रजेत्॥

अर्थात्—कानों को हाथों से ढँक कर जो साधक अनाहत ध्वनि को सुनने का अभ्यास करता है, वह वहाँ चित्त के स्थिर हो जाने पर स्थिर पद को ही प्राप्त हो जाता है।

नादानुसन्धान के अभ्यास से मन में स्थिरता आने लगती हैं। यह निश्चय है कि जब तक मन स्थिर नहीं हो पाता, तब तक किसी प्रकार की सिद्धि नहीं हो सकती। इस विषय में भी हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

अभ्यस्यमानी नादोऽयं बाहममाबृणुते ध्वनिम्
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥

अर्थात्—अभ्यास हो जाने पर यह नाद बाह्य शब्द का आवरण कर लेता है, जिससे योगी पक्ष भर में ही सब विक्षेपों पर विजय प्राप्त करके सुखी हो जाता है।

जब बाहरी शब्द भीतर प्रविष्ट नहीं करेंगे तब तो चित्त का एकाग्र

हो जाना स्वाभाविक ही है। योगिराज आदिनाथ ने अपने अनुभव के आधार पर स्पष्ट ही कह दिया है—

बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्त चापलम् ।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्न पक्षः खगो यथा ॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योग साम्राज्यमिच्छता ॥

अर्थात्—विषय रूपी उद्यान में मदोन्मत्त हाथी के समान घूमते हुए मन को वश में लाने के लिये नाद रूप तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ है। क्योंकि नाद के बन्धन में बन्धन में बंधने पर मन अपनी चचलता का पूर्ण रूप से त्याग कर पर कटे हुए पक्षी के समान अत्यन्त निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। उस समय योग समस्त चिन्ताओं से मुक्त तथा सावधान चित्त सावधान चित्त होता है। जो योगिजन इस प्रकार के योग साम्राज्य का इच्छुक हो, उसे नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिये।

योगदर्शनकार ने संप्रज्ञात योग के चार लक्षण कहे हैं—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। इन विचारानुगत भेदों के अनुसार स्थूल पदार्थों का साक्षात् करने के पश्चात् सूक्ष्म तन्मात्राओं के भावनात्मक विचार से तथा उसी के मध्यम से समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है। कुछ विद्वान् इसी आधार पर मानते है कि स्थूल का अनुभव होने पर ही सूक्ष्म का अनुभव सुगम होता है। इसलिये प्रथम बाह्य शब्द में अभ्यास करे तो आन्तरिक शब्द श्रवण के अभ्यास में अधिक कठिनाई नहीं होती।

नादयोग में हठयोग के समस्त साधनों का स्वतः ही अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि हठयोग के द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है वह नादयोगी के लिये भी सुगम है, इस सम्बन्ध में हठयोग प्रदीपिका में ही कहा है—

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोग समारूढ़ः पुरुषः काल वञ्चकः ॥
तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्य जलं त्रिभिः।
उन्मनी कल्पलतिका सद्यः एव प्रवर्तते।

अर्थात्—हठ और लय के समस्त उपाय राजयोग द्वारा स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। जो साधक राजयोग पर समारूढ़ होता है, वह काल की वंचना करने में भी समर्थ है। तत्व बीज है हठ क्षेत्र है और उदासीनता जल है, इन तीनों के संयोग से उन्मनी कल्पलता शीघ्र उत्पन्न एवं प्रवृत होती है।

योग दर्शन में असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई हैं—'विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः सस्कार शेषोऽन्यः' अर्थात् जिसकी पूर्ण अवस्था विराम रूप प्रत्यय है तथा जिसमें चित्त की स्थिर संस्कार मात्र ही शेष रह जाती है, वह असम्प्रज्ञात समाधि है।' इस समाधि की सिद्धि राजयोग से स्वतः हो जाती है।

जहाँ चित्त का लय हो, समस्त बाह्य विषयों से विमुख होकर केवल ध्येय के ही चिन्तन में रहे तो उसकी वृत्ति ध्येयाकार ही हो जाती है। महर्षि घेरण्ड का कथन है—

एवं विधः समाधिः स्यात् सव संकल्प वर्जितः।
स्वदेहे पुत्रदारादि बान्धवेषु धनादिषु ॥

अर्थात् इस प्रकार पुत्र, पत्नी, बांधव तथा धन आदि में ही नहीं, अपने शरीर में भी ममता का त्याग करके सभी संकल्पों से रहित हो जाय और समाधि में लीन हो जाय।

अभिप्राय यह है कि समाधि में लीन होने के लिये समस्त सांकल्पों का त्याग आवश्यक हैं। संकल्पों का त्याग किये बिना चित्त में एकाग्रता आ ही नहीं सकती। संकल्प अर्थ कामना और मन दोनों ही

किये जाते हैं, किन्तु इससे मन्तव्य ग्रहण करने से कुछ अन्तर नहीं पड़ता। कामना के त्याग बिना मन का त्याग (आशा, तृष्णा या विविध विचार आदि का त्याग) सम्भव नहीं। इसलिये कामना को त्याग कर मन को एकाग्र करना ही अपेक्षित है। मैत्रेय्युपनिषद् में कहा है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मया भाति गुह्यमेतत् सनातनम् ॥

अर्थात् चित्त ही संसार है, इसलिये प्रयत्न पूर्वक चित्त को शुद्ध करना चाहिये। क्योंकि जिसका जैसा चित्त, उसकी वैसी ही गति यह सनातन सिद्धान्त है।

इस प्रकार नादयोग के द्वारा समाधि को प्राप्त हुआ योगी सभी अवस्थाओं और चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। उसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द तथा अपने पराये का ज्ञान भी नहीं रहता। शीत, उष्ण, सुख-दुःख के अनुभव से भी मुक्त रहता है। उसे मान-अपमान की चिन्ता भी नहीं रहती।

कर्मफल रूप पाप-भोग के बिना किसी भी जीव को छुटकारा नहीं मिल पाता। किन्तु नादयोगी पाप फल का भोग किये बिना ही पवित्र हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका के ही अनुसार—

सदा नादानुसन्धानात्क्षायते पाप संचयाः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तातमारुतौ।

अर्थात्—सदैव नादानुसन्धान में लगे रहने वाले योगी के संचित पाप समूह क्षीण हो जाते हैं और चित्त तथा वायु दोनों ही लय को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार नाद योग सब से ऊंची साधना है, उसकी समता कोई अन्य साधना नहीं कर सकती। जो साधक समस्त सिद्धियों युक्त मोक्ष के आकांक्षी हों, उन्हेंअवश्य ही नादयोग का अभ्यास करना चाहिये।

नादयोग द्वारा ईश्वर साक्षात्कार

आलाचक्र से सहस्रार तक का भाग अत्यंत पवित्र है। उससे भी ऊपर ब्रह्माण्ड है तथा उससे भी पार परब्रह्म है। उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में श्रेष्ठ आसन पर संयत होकर बैठें तथा नेत्रों को बन्द कर लें। मुख भी बन्द रखें और कानों को भी अंगूठों या अंगुलियों के द्वारा बन्द कर लेना चाहिये। इससे भीतर से निकलने वाली ध्वनि सुनाई देने लगेगी। यह ध्वनि आरम्भ में झींगुरों के बोलने के समान होती है।

आँखों की रचना इस प्रकार हुई है कि उन्हें तीसरे नेत्र से प्रकाश मिलता रहे। बाह्य आँखों में स्वतः कुछ देखने की शक्ति नहीं, वे तो जड़ हैं, स्वतः कहाँ से देखेंगी। यह तो सूर्य, चन्द्रमा, तारे, विद्युत् या अग्नि के प्रकाश का सहारा पाकर ही देख पाती हैं। किन्तु आन्तरिक आँखें स्वयंप्रकाश हैं। उन्हें सूर्य, चन्द्रमा आदि की किंचित् अपेक्षा नहीं है।

बाह्य आँखों को बन्द करने का अभिप्राय यही है कि यदि बन्द हो जायगी तो भीतर की आँख खुल जायेगी। आप देख सकते हैं कि अन्धों के पास बाहरी आंखें नहीं होतीं, तो भी अनेक बातों में वे आँखों वाले से अधिक क्रियाशील रहते हैं। वे अपनी भीतरी आँख के सहारे ही बहुत कुछ बातें जान लेते हैं। इसी प्रकार जब साधक अपनी बाहरी आँखों को बन्द रखने का अभ्यास करेगा, तब उसकी भीतरी तीसरी आँख खुल जायगी और उससे प्रकाश की प्राप्ति होगी।

यही बात कानों को बन्द करने के विषय में है। कानों को बाहर से बन्द करने पर भीतरी कान खुल जाते हैं। उनके द्वारा अन्तर में निरन्तर गूँजता रहने वाला दिव्य नाद सहज ही सुनाई देने लगता है।

परमात्मा तक पहुंचने का मार्ग अत्यंत सूक्ष्म है, इतना सूक्ष्म कि उसमें सुई की नोंक भी प्रविष्ट न हो सके। इसमें तीन मार्ग कट गये हैं –दाँया, बाँया, और मध्य। मार्गों की यह त्रिवेणी है। हमें इसके मध्य मार्ग में प्रविष्ट होना है। क्योंकि यही मार्ग सुगम है। इसमें जाने के लिये कुछ प्रयत्न तो करना ही होगा। यह मनुष्य शरीर बड़ी कठिनाई से मिलता है, प्रभु-प्राप्ति के लिये जो भी करना है इसी शरीर में किया जा सकता है। यदि इसमें चूक गये तो फिर दुःख ही दुःख है।

जब साधक गुरु कृपा से अपनी साधना में सफल होने लगता है तब आत्मा नव द्वारों से उठकर ऊपर दसवीं गली में आती है, जहाँ बहुत तीव्र प्रकाश रहता है। अत्यंत प्रकाश वाला सहस्रार सहस्र बत्तियों की ज्योति से ज्योतित दिखाई देया है। यह कमल हजार दल का है, सभी पंखुडियाँ प्रकाशमान है। इसी कमल से घण्टा, घड़ियाल, शंख, सितार आदि दिव्य वाद्यों की आकर्षक ध्वनियाँ निकल रही है। बस, आध्यात्मिक मण्डलों पर पहुँचने के मार्ग में यह प्रथम पड़ाव है।

इससे ऊपर एक अत्यंत सूक्ष्म नाड़ी है जो त्रिकुटी की ओर जाती है इसमें प्रविष्ट होकर बढ़ना होता है। इस मार्ग के पार होने पर आत्मा त्रिकुटी मण्डल में स्थित ब्रहमदेश में जा पहुंचती है। जो आत्मा नीचे के देशों में अधिक आवरित रहती है, वह जैसे-जैसे ऊपर चढ़ती है, अधिक चैतन्य होती जाती है।

नौ द्वारों से निकट कर दसवीं गली में पहुँचने पर भी आत्मा को माया का सूक्ष्म आवरण मिलता ही है। ज्यों-ज्यों ऊपर जाती है, त्यों-त्यों प्रकाश बढ़ता जाता है और ब्रहमधाम या सत्यलोक में पहुँचने पर पूर्ण प्रकाश के दर्शन होते ही हैं।

जब आत्मा सहस्रार से ऊपर चढ़ती है. तब मार्ग में अनेक विरोधी शक्तियाँ मिलती हैं जिनका कार्य बाधा उपस्थित करना है। इन शक्तियों के विभिन्न रूप हैं, कहीं अत्यन्त सुन्दर स्त्रियों के रूप में फुसलातीं हैं, कहीं अत्यंत वैभव के ठाट-बाट दिखाकर भ्रमाती है। परन्तु गुरु कृपा को प्राप्त हुई आत्मा उनके बहकावे में नहीं आती और ऊपर चढ़ती जाती है।

सहस्रदल को पार करने पर उसे ब्रह्माण्ड मिलता और उसे भी पार कर लेने पर परब्रह्म के दर्शन होते हैं। इस प्रकार पूर्णगुरु की कृपा से ही साधक को यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। सच्चा उपासक वही है जो इस प्रकार की सच्ची साधना करे। आडम्बर द्वारा साधु का वेश बना लेने पर किसी प्रकार की सिद्धि तो नहीं होती, हाँ भोले-भाले मनुष्यों को बहकाया अवश्य जा सकता है।

सभी स्थानों में ध्वनियाँ है, किन्तु समान नहीं। कहीं किंकणी की ध्वनि है तो कहीं सारंगी की, कहीं घंटा की है तो कहीं शंख की। सत्य मण्डल में वंशी की ध्वनि होती है। यहाँ अट्ठासी हजार द्वीप है, जिनमें भक्तजनों का निवास है।

ब्रह्माण्ड के पार सोऽहं संज्ञक एक महान् मण्डल है, जो कि परम चैतन्य है। आत्मा यहाँ समस्त आवरणों को हटाकर और अत्यंत स्वच्छ होकर पहुँची है और उसे यह ज्ञान हो जाता है कि वह परमात्मा रूप ही है।

सत्यधाम की प्राप्ति की कोई अवधि नहीं। कोई साधक वहाँ जल्दी पहुँच सकता है, कोई देर में यह सब अपने-अपने प्रेम की दृढ़ता पर निर्भर है। परमात्मा में जितना अधिक दृढ़ प्रेम होगा उतनी जल्दी उसकी प्राप्ति होगी।

उस धाम में जन्म, मरण, सुख, दुःख कुछ भी नहीं है। वह तो सदैव एक रस रहता है। वहाँ आनन्द ही आनन्द है। न कोई धर्म, न

कोई जाति, केवल ईश्वर ही एक मात्र अधिपति है। आत्मा अपने अधिपति की सेवा में पहुंच जाती है। फिर उसे किसी प्रकार का मनोविकार नहीं रहता।

आत्माएं असंख्य हैं, यह सभी उस धाम की प्राप्ति में समर्थ नहीं होती। सभी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुख भोगने होते हैं। किन्तु जो लोग मोक्ष के लिए साधन करते हैं, वे अपनी आत्मोन्नति में सफल हो जाते हैं।

आत्माएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि इन्हें किसी यन्त्रादि से भी नहीं देखा जा सकता। यद्यपि वैज्ञानिकों ने ऐसे अनेक यन्त्र बना लिये हैं, जिनके द्वारा किसी भी सूक्ष्म वस्तु का आकार उससे डेढ़ हजार गुना अधिक देखा जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के शक्तिशाली यन्त्र भी आत्मा को दिखाने में समर्थ नहीं है।

आत्मा तो क्या शरीर में विद्यमान चक्र आदि का देखा जाना भी असम्भव है। यह भी इतने अधिक सूक्ष्म हैं कि कोई भी यन्त्र इनका पता नहीं लगा सकता। शरीर विज्ञान के बड़े-बड़े पण्डित भी इनको देखने में समर्थ न हो सके। क्योंकि इनका सम्बन्ध शरीर की नस-नाड़ियों ग्रन्थियों या मांस-मज्जा आदि से नहीं, वरन् मन से है। इसीलिए यह मन के समान सूक्ष्म हैं। क्या कोई शल्य चिकित्सक किसी मृतक की चीर-फाड़ करते हुए मन को भी कहीं देख सका है।

अब अनुमान कीजिए कि जब मन ही नहीं दिखाई देता तो मन के साथ सम्बन्ध रखने वाले वे चक्र ही कैसे देखे जा सकते हैं। इस प्रकार जो लोग चक्रों के दिखाई न देने पर उन्हें मिथ्या कहते हैं, वे स्वयं ही भ्रम और मिथ्यात्व के शिकार हो रहे हैं।

संसार की सृष्टि,स्थिति और प्रलय वाली बात प्रत्यक्ष हैयहनित्यप्रति देखी जाती है। प्रतिदिन न जानें कितने जन्म लेते और न जानें कितने नये निर्माण होते हैं, उनका पालन-पोषण भी होता है, यह स्थिति है और

आये दिन लोगों की मृत्यु, दुर्घटना, बाढ़, भूकम्प, भूस्खलन आदि की जो घटनाएं होती हैं, वे प्रलय रूप ही हैं। कहीं-कहीं तो हजारों की मृत्यु कुछ ही देर में हो जाती है, वह प्रलय से भिन्न नहीं है।

परन्तु इन तीनों के साथ 'महा' शब्द लगने पर उनकी महानता का आभास होता है। जब पूर्ण प्रलय के बाद सृष्टि-रचना का क्रम पुनः आरम्भ होता है तब उसे महासर्ग करते हैं। सृष्टि को पीढ़ी दर पीढ़ी स्थित रहना ही उसकी महास्थिति है और जब समूचा संसार एक साथ नष्ट होता है, उस अवस्था को महाप्रलय कहते हैं।

उस महाप्रलय में समस्त विश्व समाप्त हो जाता है। धर्मग्रन्थों के अनुसार यह महाप्रलय एक चतुर्युगी व्यतीत होने पर होती है। इसमें पृथिवी लोक ही नहीं, उससे ऊपर के भी सभी लोक विलीन हो जातेहैं।

किन्तु परमात्मा का सत्यलोक या सत्यधाम, जिसे खचखण्ड भी कहते हैं, महाप्रलय में भी नष्ट नहीं होता। परब्रह्म परमात्मा यद्यपि सर्वव्यापक है तो भी उसका निज धाम वही है। मुमुक्षुजन जब मोक्ष प्राप्त कर परमात्मा से मिलने के अधिकारी हो जाते हैं, तब उनकी अन्तिम गति यह सत्यधाम ही है।

विगत पृष्ठों में त्रिकुटी की ओर जाने वाली एक सूक्ष्म नाड़ी की चर्चा की गई थी। वस्तुतः यह एक टेढ़ा मार्ग है, इसलिए इसे अंक नाल भी कहते हैं, क्योंकि बक का अर्थ है टेढ़ा और नाल का अर्थ है नल अथवा मार्ग। त्रिकुटी की ओर जाने के लिए पहिले सीधा चलना होता है, फिर नीचे और फिर ऊपर चढ़ना होता है। इसके बाद पुनः सीधा जाना होता है। यह मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है, इसमें तब तक प्रविष्ट होना असम्भव हैं जब तक मन का साथ नहीं छोड़ दिया जाता। गुरु नानकदेव का कणय है-

राह खुदा भी हावला वालों दसवें भाइ।
हाथी मिओं न सकई हउम रखे अड़ाइ॥

अर्थात्—परमात्मा की ओर जाने वाला मार्ग बाल के भी दसवें भाग से महीन है और उसमें जाने वाली आत्मा के साथ हाथी के समान विशालकाय मन लगा हुआ है तो उस मार्ग में जायगा ही कैसे ?

एक बार काजी रुकनदीन ने गुरु नानकदेव से पूछा कि 'आप जिस ईश्वर के महल की बात कहते हैं, वह कैसा है। जिसमें बुर्ज, कँगूरे और द्वार कितने-कितने हैं। तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'परमात्मा का निवास मानव शरीर में है। यही उसका महल है, इसमें बारह बुर्ज, बावन कगूरे और नौ द्वार हैं। प्रत्येक भुजा के तीन भाग तो दो भुजाओं के छः हुए और प्रत्येक टाँग के भी तीन भाग, जो दो टाँगों के छः हो गये। इस प्रकार हाथ-पावों के बारह भाग ही उसके बुर्ज हैं। बत्तीस दाँत और बीस नाखून, यह बावन बुर्ज हैं। दो नेत्र, दो कान, दो नाक एक मुख, एक उपस्थ और एक मल द्वारा, यह सब नौ द्वार हुए।' फिर तो वह दसवीं गली आ ही जाती है, जहाँ से साधक अपनी यात्रा को आरम्भ करता है।

मनुष्य जन्म-जन्मातर से उन नौ द्वारों का ही उपयोग करता आया है और इसीलिए सांसारिक पंच दस्युओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहकार के फन्दे से फँसा रहता है। परन्तु यदि वह उस दसवीं गली में पहुंच जाय तो उसे और भी ऊपर जाने की अभिलाषा होगी और वह उसमें ध्यान लगाने लगेगा।

एक बार हजरत मुहम्मद साहब आकाश में भ्रमण कर रहे थे, समय उनके साथ जिबराइल भी था, जो कि उस दिव्य प्रकाश की ओर जाने में असमर्थ रहा। वरन् वहाँ पहुंचने से पूर्व ही उसके पंख जलने लगे। परन्तु यदि साधक सच्चे मन के और गुरुकृपा से वहाँ जाय तो उसके लिये सभी कुछ सामान्य हो जाता है।

जब दसवीं गली से आगे सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि से भी आगे बढ़कर आत्मा और भी आगे जाती है तो उसे दो मार्ग मिलते हैं—एक काला और दूसरा श्वेत। काले को छोड़कर सफेद मार्ग की ओर बढ़ना ही श्रेयस्कर होता है। यथा—

श्याम तज सेत को गहना।
सुरत को तान धुन सुनना।।

अर्थात्—जो श्याम (काला या अन्धकार पूर्ण) मार्ग है उसे छोड़कर श्वेत (ज्योतिमय) मार्ग का ग्रहण करो। वही परमात्मा का मार्ग है, जहाँ आत्मा को ब्रह्मनाद सुनाई देता है।

त्रिकुटी अथवा ब्रह्म से ऊपर चढ़ने पर जब आत्मा परब्रह्म के स्थान को प्राप्त होती है तो वहाँ से अमृत की सरिता बहती हुई मिलेगी। उसमें स्नान करते ही आत्मा के सभी आवरण उतर जाते हैं और वह पूर्ण स्वच्छ तथा पवित्र हो जाती है। उस समय उसे काले या गोरे वर्ण का अन्धकार और प्रकाश का कोई भेद प्रतीत नहीं होता। वह समस्त कल्मषों से मुक्त हो चुकी होती है और तभी वह सत्यधाम में जाने के योग्य हो पाती है।

सत्यलोक से ऊपर अलख लोक और उससे ऊपर अगम लोक है। इन दोनों को पार कर लेने पर, अन्त में जो स्थान मिलता है, वहीं सब का आदि-अन्त है और वही निर्गुण ब्रह्म का परमधाम कहलाता है। यदि गुरु कृपा प्राप्त साधक अपने को स्वच्छ मन बनाकर साधना करे इसकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है।

यद्यपि यह मनुष्य शरीर इसलिए मिलता है कि इसमें आकर आत्मोत्थान का कार्य किया जाय, जिससे जन्म-मरण का सुदृढ़ बन्धन छूट सके। परन्तु सांसारिक माया-मोह में फँसा हुआ प्राणी इस तथ्य को समझता जानता नहीं, वह दुनिया के प्रवाह में बहता रहता और उसी में आनंद मानता है लोभ-लालच का यह कनक विषघट सभी को अपनी ओर

आकर्षित किये हुए है। मनुष्य इससे छुटने का कोई मार्ग नहीं देखता और न जानता ही है।

ऋषि-मुनियों सिद्ध सन्तों आचार्यों तथा गुरुजनों आदि ने संसार से पार होने के अनेक उपाय बताये हैं। कोई योग को मोक्ष का साधन बताता है तो कोई भक्ति को, कोई यज्ञादि को श्रेष्ट मानता है तो कोई पाठ-पूजा आदि को। कुछ सन्तों ने सुरत शब्द योग को इसका सुगम उपाय माना है क्योंकि इसमें यम, नियम, आसन, मुद्रा आदि के कष्टकर साधन नहीं करने होते। इसमें आत्मा शब्द के साथ मिलकर उसमें लीन हो जाती है, जिससे परमात्मा की प्राप्ति सहज होती है।

इसमें चित्त को सांसारिक विषयों से हटाकर परमेश्वर की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बनाना होता है यह सत्य है कि आत्मा का साँसारिक विषयों से कोई लगाव नहीं है। वह उनसे बिल्कुल भी आसक्ति नहीं रखती किन्तु काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कार यह पाँच डाकू मिलकर उसे बरबस अपने फन्दे में डाले हुए हैं। इनके फन्दे से छुटने का उपाय किया जाना अपेक्षित है।

ससार में सत्पुरुषों ने दो मार्ग निश्चित किये हैं—एक प्रवृति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग में भी मनुष्यों को सामाजिक मर्यादा का पालन करना अपेक्षित होता है। इसमें संसार से सम्बन्धित शारीरिक पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कर्म भी सम्मिलित किये जाते हैं। इन सभी कर्मों का परस्पर तारतम्य तथा सत्यता का व्यवहार रहना चाहिए। स्त्री-पुरुषों के निज के सम्बन्ध, गुरुजनों तथा छोटों के प्रति उचित व्यवहार, सन्तानों और भृत्यों आदि का पालन-पोषण तथा आजीविकोपार्जन आदि सभी में सत्यता शिष्टता और उदारता रहनी चाहिये। जो लोग सदाचार रत नहीं रहते, अनाचारी तथा उच्छृङ्खल स्वभाव के होते हैं, वे इनके पालन में प्रसाद करने के कारण विषयो में अधिक फँसते जाते हैं, जब कि सदाचारी मनुष्यों की बुद्धि में

सात्विकता रहती है, इस कारण वे प्रवृति मार्ग से शीघ्र ही ऊँचे उठ सकते हैं।

इस प्रकार जब तक प्रवृति मार्ग में रुचि रहे तब तक भी मनुष्यों को सदाचार का अवश्य ही पालन करते रहना चाहिए। प्रवृति मार्ग मार्ग में भी सदाचार ही धर्म है, अनाचार कभी भी न धर्म हो सकता है, न श्रेयष्कर ही।

जो लोग निवृति मार्ग के अनुयायी होना चाहें, उन्हें भी उसके धर्मों को समझ लेना चाहिए। उसमें यह आवश्यक नहीं कि घर छोड़ कर संन्यासी बना जाय और जंगल में रहा जाय । इसमें तो सच्चे वैराग्य की आवश्यकता होती है, चाहे घर पर रहें अथवा कहीं अन्यत्र रहें ।

जंगल में रहकर भी यदि मन में सच्चा विरक्ति भाव उत्पन्न नहीं हुआ तो वैराग्य व्यर्थ ही है। वैरागी या संन्यासी के रूप में किये जाने वाले बाहरी आडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः बाहरी त्याग से कुछ होता जाता नहीं है, चाहे दूसरों पर उसका कितना ही प्रभाव क्यों न पड़े ।

सन्तों का कार्य केवल स्वार्थ-चिन्तन नहीं, परार्थ-चिन्तन भी है। जो लोग दूसरों के दुःख-दर्द को अपना दुःख मानकर उनकी सहायता करते हैं, वे निश्चय ही सच्चे साधु हैं। क्योंकि साधु का लक्षण ही दयालु, उदार, सत्यप्रिय और सन्तोषी होना है उसे किसी प्रकार की इच्छा, बासना आदि नहीं रहनी चाहिए।

दया बहुत बढ़ा सद्गुरु है। जिसके हृदय में दया नहीं, वह क्रूर मनुष्य साधु सन्त कहलाने के योग्य नहीं। किसी विद्वान् कवि ने दया को धर्म का मूल' बताया हैं, जिसके हृदय में दया नहीं वह धार्मिक कैसे हो सकता है। क्योंकि दया के बिना प्रवृति में जो क्रूरता रहती

है, उसमें हिंसा-भाव रहता है और साधुता की सबसे बड़ी पहिचान उसका अहिंसक स्वभाव ही है।

दया और उदारता का जोड़ा है। हृदय में उदारता नहीं तो दया भी नहीं हो सकती और दया नहीं तो उदारता ही कहाँ से रहेगी ! उसी के साथ सन्तोष का भी गहरा सम्बन्ध है। उदार हृदय मनुष्य दयालु और सन्तोषी होता है।

कुछ विद्वान इन सब में सन्तोष को ही प्रमुखता देते हैं। उनके मत में यदि मनुष्य सन्तोषी है तो उदार और दयालु भी हो सकता है। यदि सन्तोष ही नहीं तो अन्य गुण कहाँ से आयेंगे असन्तोषी साधक अपनी अपनी साधना में भी प्रायः सफल नही हो पाता और वह दूसरों की दृष्टि में भी गिर जाता है।

सत्य प्रिय होना साधक का आवश्यक गुण है। योगाचार्यो ने भी यम-नियमों के अन्तर्गत सत्य को बड़ा महत्व दिया है। सत्यपर ही यह धरती आकाश टिके हैं और सत्य ही सदैव पुण्य-फल के रूप में प्राणी के लिये सहायक सिद्ध होता है। सत्य का फल हम भारतवासी तो वैसे भी प्रत्यक्ष देख चुके हैं। उसी के बल पर हमारे देश में रक्तहीन क्रान्ति सफल हुई।

इसके विपरीत, असत्य मनुष्य को पतन के गहरे गर्त में गिरा देता है, विशेष कर साधक के लिये तो यह एक बहुत बड़ा व्यवधान है ही। असत्य आचरण वाले मनुष्यों का चित्त बार-बार विषयों की ओर दौड़ता और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्श्या आदि को जन्म देता है। यदि कहा जाय कि यह समस्त संसार ही असत्य का परिणाम है तो किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं समझी जायेगी। जगत् मिथ्या है, इसकी उत्पत्ति अविद्या या असत्य से ही होती है।

इस प्रकार असत्य ही प्राणियों के बन्धन में प्रमुख कारण है। जब

तक यह है, तब तक मोक्ष को सम्भावना नहीं हो सकती। मोक्ष तो तभी सम्भव है, जब सत्य और असत्य दोनों के पलड़ों में समानता है। पुण्य और पाप दोनों का ही क्षय हो चुका हो।

मुमुक्षु साधकों को तो सत्य के आश्रय की परम आवश्यकता होती है। सत्य के आचरण से मन को एकाग्र करने में भी सहायता मिलती है। जहाँ सत्य है वहीं श्रेय है और जहां श्रेय है, वहाँ परमात्मा की प्राप्ति भी सरल है।

साधक के लिए वाणी का संयम भी कुछ कम अपेक्षित नहीं है। उसे मितभाषी (कम बोलने वाला) होना चाहिए। अपना प्रभाव जमाने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी कर लेना साधना में बहुत हानिकर है। जो लोग भीड़-भाड़ को आकर्षित करने के लिए ही लच्छेदार और पाखण्ड पूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं, वे अपनी साधना में तो सफल नहीं हो सकते। यह बात दूसरी है कि भोले-भाले स्त्री-पुरुषों को अपनी ओर अधिक से अधिक आकर्षित कर लें।

इसलिए बहुत से साधक लोगों से सीधे मुख बातें नहीं करते। वे समझते हैं कि रुखाई का व्यवहार करने से लोग आकर घेरेंगे नहीं और उनकी साधना निर्विघ्न रूप से चलती रहेगी। कुछ सीमा तक उनका इस प्रकार सोचना कुछ अनुचित भी नहीं माना जा सकता। किन्तु इस -से भी लोगों पर अच्छा प्रभाव नहीं पढता और उनकी आत्मा किसी न किसी प्रकार बुरा मानती ही हैं।

किसी आत्मा को कष्ट पहुँचना ही हिंसा है। इसीलिए योगियों ने हिंसा को त्याज्य माना है। सत्य की साथिनी अहिंसा है, हिंसा नहीं। यदि मन में हिंसा का भाव है तो सत्य ठहर ही नहीं सकता। फिर हिंसा में क्रोधादि की सहायता रहने के कारण वही विषय-जाल की सुदृढ़ जकड़न प्रत्यक्ष हो जाती है, जिससे साधक बचना चाहता है।

लोगों से सम्पर्क कम रहे, इसलिए मितभाषी तो होना चाहिए किन्तु किसी से बुरा नहीं बोलना चाहिए। कोमल वाणी सदा शुभ-कारिणी होती है। दूसरों पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। किसी से जाने को कहना है तो डाँट कर मत कहो, मीठी वाणी में समझाओ कि 'इससे साधना में विघ्न पड़ता है। कोई सद्‌मनुष्य साधना में विघ्न नहीं पहुंचाना चाहेगा, आपकी बात सुन-समझकर तो आयेगा ही नहीं, और आयेगा भी तो तभी जब साधक उसे वैसा करने की अनुमति दे देगा।

इस प्रकार जो कुछ भी कहना है मीठी वाणी और स्पष्ट भाषा में कहिये। जब कुछ कहा जाय मीठे शब्दों में ही कहा जाय। जहाँ तक सत्य बात भी मधुर शब्दों में ही कहनी चाहिए। जो सत्य कढ़वा हो उसे कहना भी न्याय संगत नहीं। इसीलिये वेद ने स्पष्ट कहा है— 'सत्यं ब्रूयात, प्रियं ब्रूयात, न ब्रूयात सत्यमप्रियं' अर्थात—सत्य तो (अवश्य) बोलो, किन्तु प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य (भी कभी) मत बोलो।'

सत्य भाषण अन्तर को पवित्रकर समस्त कलुषों को धो डालता है। और जब तक अन्तर से मल दूर न हो तब तक साधना ही कैसी? सत्य का प्रभाव देर-अबेर कभी भी पड़े, पड़ेगा अवश्य ही। भीतरी मल दूर होना या पवित्रता होना उतना ही आवश्यक है, जितनी कि साधना। यदि साधना करनी है तो भीतरीमल को नष्ट करने में लग जाओ।

भीतरी मल के नष्ट होने पर चित्त में एक चित्तता आने लगती है। प्रत्याहार, धारण और ध्यान में भी भीतरी मल के न रहने पर ही चित्त लग पाता है। फिर समाधि तो बहुत ऊँची बात है। उस तक पहुंचने के लिये तो सभी प्रकार की स्वच्छता अपेक्षित है।

जैसे आन्तरिक स्वच्छता की आवश्यकता होती है, वैसे ही बाह्य स्वच्छता भी कम आवश्यक नहीं है। नित्य-प्रति शौचादि से नियम

पूर्वक निवृत्त होकर दाँतुन, कुल्ला, स्नान आदि भी ठीक प्रकार से किया जाना चाहिये। ऐसा करने शरीर में स्फूर्ति और ताजगी रहती और साधना में भी मन लगता है।

अभिप्राय यह है कि साधक को सब प्रकार की अच्छाइयाँ अपनानी चाहिये। जिन कार्यों से साधना में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित होती हो उनका त्याग किया जाना ही कल्याणकारी है। बाह्य पवित्रता या शुद्धि से स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। जब तक स्वास्थ्य ठीक न होगा, तब तक साधना का ठीक प्रकार से होते रहना सम्भव नहीं।

प्रथम शरीर को स्वच्छ करो, और फिर मन को। जब मन शुद्ध हो जाता है तभी आत्मा को ढकने वाला कीचड़ दूर हो सकता है। इसलिये पवित्रता को इस प्रकार से अन्तर्भूत कर लेना चाहिये कि वह चित्त के लिये अभिन्न अंग बन जाय। क्योंकि जब तकऐसा नहीं होता तब तक आत्मोत्थान भी नहीं हो पाता।

आहार के विषय में भी सतर्क रहना आवश्यक है। क्योंकि मन पर आहार का बड़ा प्रभाव पड़ता है। दूषित आहार समस्त प्रक्रियाको ही दूषित बना देता है। बालमीकि रामायण में कहा—'यदन्न पुरुषो भवित तदन्नास्तस्य देवताः अर्थात मनुष्य (साधक) जैसा अन्न खाता है, उसके देवता भी वैसा ही अन्न खाते हैं।' उपनिषद-वाक्य है—

आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृति लभ्ये सर्व ग्रन्थीनाँ विप्रमोक्षस्तस्र्य मृदित कषायाय तमसस्या दर्शयति भगवान् सनत्कुमार।

अर्थात-आहार शुद्ध होने पर सत्व (अन्तःकरण) शुद्ध रहता है। सत्व के शुद्ध रहने पर स्मृति सदैव बनी रहती है। उस स्मृति विवेक बुद्धि) से अज्ञानजन्य बंधन ग्रन्थियाँ खुलती है और तब परमतत्व का

साक्षात्कार होता है। यह ज्ञान भगवान् सनत्कुमार ने महर्षि नारद को दिया था।

तैत्तरीय उपनिषद् ने प्राणमय पुरुष का अन्न से व्याप्त रहने की बात कहकर यह प्रदर्शित किया है कि इस हाड़-मास के शरीर में विद्यमान आत्मा अन्त के आवरण से ढका रहने के कारण वैसा ही होने लगता है—

तस्माद्वा एतस्माद-नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तेनेष पर्णः, सवा एष पुरुष विध एव।

अर्थात्—इस अन्न-रसमय शरीर के भीतर जो प्राणमय पुरुष विद्यमान है, वह अन्न से व्याप्त है। यही प्राणमय पुरुष आत्मा है।

पाशुपत ब्रह्मोपनिषत् का मत है कि 'आहार में अभक्ष्य का त्याग कर देने से चित्त शुद हो जाता है, क्योंकि आहार शुद्धि से चित्त शुत्ति स्वतः हो जाती है और चित्त के शुद्ध होने पर क्रम से ज्ञान उत्पन्न होने लगता तथा अज्ञान की ग्रन्थियां टूटती जाती है।

छान्दोग्य उपनिषत् का भी ऐसा ही मत है—आहार के शुद्ध होने पर भावना दृढ़ होती है और जब भावना दृढ़ होती है, तब हृदय की सभी ग्रन्थियाँ सहज ही खुल जाती हैं।'

प्राचीन काल में विद्वान् मनुष्य केवल पुण्यकर्मियों के घर का ही अन्न खाते थे क्योंकि वह अन्न शुद्ध सात्विक होता था। जिसे पुण्यात्मा नहीं समझा जाता था, साधुजन उसका अन्न ग्रहण नहीं करते थे। इसीलिये किसी के पुण्यात्मा होने की यह एक कसौटी थी कि साधुजन उसका अन्न ग्रहण करते हों। वे जिसका अन्न ग्रहण नहीं करते थे, उसका अन्न सर्व सामान्य लोग भी स्वीकार नहीं करते थे। यथा—

सर्वोवा एष जग्ध पाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति।

अथर्व ९।६।२५

अर्थात्—वही व्यक्ति पुण्यात्मा है, जिसका अन्न दूसरे लोग खाते हैं।

वर्तमान समय में भी कहीं-कहीं यह प्रथा मिलती है कि वहाँ का समाज जिस व्यक्ति को अनुचित आचरण का दोषी मानता है, उसके यहाँ कोई भी भोजन नहीं करता। यद्यपि समय के प्रभाव से यह प्रथा हटती जा रही है कि समाज किसी व्यक्ति को इस प्रकार दण्ड दे।

इन सब बातों को दृष्टिगत रखते हुए ही सन्त पुरुषों ने मद्य, माँस, गरिष्ट, बासी बुसे हुए, उत्तेजक तथा चटपटे मसालेदार आहार का साधकों के लिए निषेध किया है। जहाँ तक कि लहसुन प्याज जैसे पदार्थों को भी बहुत-से व्यक्ति नहीं खाते। इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति के मनुष्यों या दुष्कर्मियों के द्वारा बनाया हुआ अथवा उनके घर का भोजन भी सर्वथा त्याज्य माना गया है। जो लोग अन्याय पूर्वक धनोपार्जन करते है, उनका अन्य भी दोष पूर्ण समझा जाता है, क्योंकि दूषित कमाई के धन से उपलब्ध अन्न भी दूषित हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि साधक को कुधान्य का सर्वथा त्याग ही श्रेयस्कर है क्योंकि बुरा अन्न खाकर साधन करने वाला स्वयं ही भ्रष्ट नहीं होता, उसका उपास्य देवता भी भ्रष्ट हो जाता है। यथा—'यदन्न पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवता:' (वाल्मीकि) अर्थात् 'मनुष्य जैसा अन्न खाता है, उसके देवता भी वैसा ही अन्न खाते हैं।' इससे सिद्ध हुआ कि साधक द्वारा खाये-पिये अन्न का प्रभाव इष्ट देवता पर भी पड़ता है, इस कारण उसकी अनुकूलता भी प्राप्त नहीं हो पाती।

इसी प्रकार बीड़ी-सिगरेट आदि का व्यवहार भी शारीरिक स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं हैं। वर्तमान समय में तो सिगरेट के विज्ञापनों में स्पष्ट रूप से विषाक्त होना लिखा रहता है। यह विष धीरे-धीरे शारीरिक धातुओं का शोषण करता रहता है। किन्तु देखने में उसका

कुछ भी प्रभाव प्रतीत नहीं होता। चाय, काफी प्रभृति पदार्थ भी अहितकर ही हैं, उनका भी त्याग किया जाना चाहिए।

भांग, गांजा, सुलफा, चरस, अफीम प्रभृति पदार्थ तो कभी-कभी बहुत ही हानिकारक सिद्ध होते हैं। जिन्हें इनकी आदत पड़ जाती है, वे सहज में छोड़ भी नहीं सकते और धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य चौपट होता रहता है। मन भी उन वस्तुओं के सेवन से प्रसन्न नहीं रहता। जो लोग इन पदार्थों का सेवन करते हैं, वे ही अपना पक्ष प्रबल रखने के लिए उन्हें चित्त के लिए हर्षवर्द्धक और शरीर के लिए पौष्टिक बताते हैं। किन्तु यह सभी पदार्थ तामसिक तथा राजसिक हैं।

साधक के लिए सात्विक आहार ही हितकर है। सात्विक आहार में प्रायः फल, शाक-सब्जियाँ, दूध आदि को प्रमुखता दी जाती है। गेंहुं, चना, चावल आदि अनाज तथा दालों की मात्रा भी अनुपातानुसार हो सकती है। शाकाहारी भोजन स्वयं में एक पूर्ण भोजन है तथा उसमें सभी प्रकार के जीवनीय-तत्व (प्रोटीन, विटामिन, खनिज लवण, वसा आदि) विद्यमान रह सकते हैं। परन्तु ध्यान यह रखा जाय कि अन्नादि के अधिक पकाने पर यह तत्व भाप के साथ उड़ जाते अथवा ताप में जल जाते हैं। इसलिए किसी भी पदार्थ को उतना ही पकाया जाना उचित है, जितने से उपयोगिता तो बनी रहे, किन्तु तत्व नष्ट न हो पावें।

स्पष्ट है कि साधक को नेक और सदाचार युक्त दिनचर्या रखनी चाहिये। उसी से उसे साधना में सफलता मिलने पर परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

आत्म साधना में सहायक गुण–नम्रता और परसम्मान

नम्रता मनुष्य का एक श्रेष्ठ गुण है। जिसके स्वभाव में नम्रता नहीं, उसे उद्दण्ड कहते हैं और जो उद्दण्ड है वह स्वेच्छाचारी भी होगा। ऐसे व्यक्ति को न तो समाज के अच्छे नियमो के प्रति कुछ लगाव रहता है और न अनुशासन की ही परवाह। अहंकार रूपी वह दैत्य उसे सब समय घेरे रहता है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह का जनक है।

अहंकार का दूसरा नाम गर्व के प्रति सभी ने आशंका व्यक्त की है कि समस्त झंझटों का कारण वही हो सकता है। जिसने गर्व किया, वह कभी शुभ अन्त पा सका हो, ऐसा होते हुए सुना नहीं गया। गर्वित मनुष्य सदा ही निंदा का पात्र रहा है क्योंकि वह उपकार करना चाह कर भी किसी का उपकार नहीं कर पाता। कविराज श्रीदाऊदयाल गुप्त कहते हैं—

एतौ गरब न कीजिए पर मन छोभ उपाइ।
विरथा जग जपजस रहहि कीरति सकल न नपाइ।

अहंकार, गर्व या दम्भ के न रहने पर ही मनुष्य में नम्रता का भाव उत्पन्न होता है और यह नम्रता साधक के लिये तो बहुत ही आवश्यक है। नम्रता दूसरों पर अच्छा प्रभाव डालती है जिससे भावात्मक लाभ भी मिलता है।

स्वयं की नम्रता में ही दूसरों का सम्मान भी निहित है। अपने से बड़ी आयु के व्यक्तियों का ही नहीं, समवयस्कों का भी सम्मान करना चाहिए। यहाँ तक कि अपने से छोटी आयु के व्यक्ति भी आदर के पात्र होते हैं इसलिये सभी के प्रति नम्रता का भाव रखना चाहिये।

आत्मा सभी में है, सभी परमात्मा के अंशभूत है। इसलिये किसी के प्रति अनादर का व्यवहार नहीं करना चाहिये। क्योंकि दूसरों के साथ किया जाने वाला अनादर परमात्मा के प्रति ही असम्मान प्रकट करना है। फिर ऐसा कार्य क्यों किया जाय जिससे लाभ की अपेक्षा हानि हो और दूसरों की दृष्टि में भी स्थान बन न पाये।

किसी का निरादर करने से हमारा मन वास्तव में सन्तुष्ट नहीं होता। प्रायः देखते हैं कि जब किसी का निरादर किया जाता है तब निरादर करने वाले के मन में घृणा का भाव रहता है उस घृणाभाव की उत्पत्ति अहंकार से होती है। घृणा है तो उसके साथ क्रोध भी हृदय के किसी कोने में अवश्य छिपा होगा क्योंकि घृणा और क्रोध का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। उतना गहरा, जितना काम का भी नहीं।

और क्रोध, हमारा ही क्रोध हमारी ही उन्नति में बाधक बन जाता है। वह क्रोध ही है, जिसके उत्पन्न होने पर बड़े भयंकर नर-संहार तक हो जाते हैं। न जानें कितने निरपराध भी भस्म हो जाते हैं युद्ध की उस आग में। सामान्य स्तर पर जो लड़ाई, झगड़े, लाठी, छुरा, गोली आदि के काण्ड देखे जाते हैं, उनमें भी क्रोध और घृणा दोनों की उपस्थिति रहती है।

किन्तु क्रोध करने वाला भी कुछ सुखी नहीं रहता। युद्ध में ही नहीं, सामान्य स्थिति में भी, क्रोध करने से अपने ही शरीर से विद्यमान रस, रक्त आदि धातुओं में क्षीणता आने लगती है। क्रोधी मनुष्य

हृष्टपुष्ट भी हो तो धीरे-धीरे आन्तरिक रूप से निर्बल होने लगता है। मन निर्बल तो शरीर भी निर्बल और शरीर निर्बल तो लगी कोई व्याधि, फिर साधना में भी चित्त कैसे लगेगा ? कविवर दाऊदयाल गुप्त ने क्रोधाग्नि के परिणाम की चर्चा करते हुए कहा है—

क्रोध ज्वाल अति घोर निज तन मन दुहुन जराइ।
तन जार कारज विरत मन जारे तरपाइ॥

किसी का निरादर करेंगे तो निरादृत मनुष्य के मन में भी घृणा और क्रोध की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार यह दोनों विकार दोनों ओर जाग्रत होकर दुगुने ही नहीं, कई गुने बढ़ जाते हैं। किसी बढ़ी हुई व्याधा का रोकना बहुत कठिन हो जाता है, इसलिए जैसे ही पता चले कि मन में किसी के प्रति निरादर का भाव उत्पन्न हो गया है तो उसी समय प्रयत्न पूर्वक उसे नष्ट कर डालना चाहिए। ध्यान रहे कि हम किसी एक का आदर करेंगे तो अन्य व्यक्ति भी उसके प्रति हमारे व्यवहार को देखकर हमारा आदर करने लगेंगे।

इस प्रकार नम्रता एक आवश्यक गुण है। इसके बिना न तो साधना का क्रम ही ठीक प्रकार से चल सकता है। और न परमात्मा की ही प्राप्ति हो सकती है। आत्मज्ञान की खोज में अग्रसर होने वालों के लिये तो इसकी अत्यंत आवश्यकता है ही।

इसके विपरीत--दंभ एक अनावश्यक दुर्गण है, उसका त्याग किया जाना ही श्रेयस्कर है। दूसरा कोई दंभ करे और हमारा अपमान भी कर बैठे तो जहाँ तक सम्भव हो, हमें उसे सहन ही करना चाहिये। क्योंकि उस समय उसे सहन कर लेने से भविष्य में झंझट से बहुत कुछ बचा जा सकता है।

एक लोकोक्ति है--'कम खाओ और गम खाओ' इसमें मनुष्य-दर्शन का वह रहस्य भरा हुआ है जिससे साधक के कर्तव्यों पर अच्छा

प्रकाश पड़ता है। साधना के लिये आवश्यक है कि ठूँस-ठूँस कर भोजन न किया जाय, अन्यथा शरीर में भारीपन उत्पन्न हो जायगा और साधना में मन न लगेगा। अधिक भोजन से पाचन क्रिया खराब हो जाती और कब्ज रहने लगता है। इसीलिए योगीजन कम मात्रा में भोजन (मिताहार) को आवश्यक बताते है। विद्वानों का मत है कि उतना खाना चाहिए जिससे जीवन-ज्ञापन ठीक प्रकार से हो सके। अधिक खाओगे तो अजीर्णं हो जायगा।

अब गम खाने वाली बात पर विचार करते हैं। गम खाने का अभिप्राय सहन करने से है। उत्पन्न हुई क्रोध को पीजाना ही गम खामा है। मनुष्य में सहन शक्ति नहीं तो कुछ नहीं। किसी ने कोई अपराध किया हो तो उसे क्षमा कर दो, मारो मत, किसी दिन वह स्वयं ही मर जायगा। कहावत है—'क्षमा बड़ेन को चाहिए' जो लोग बड़े हों या बड़प्पन का दावा रखते हों, उन्हें क्षमाभाव नहीं छोड़ना चाहिए।

कहते हैं कि स्वामी दयानन्द ने अपने विषदाता को केवल क्षमा ही नहीं कर दिया, उसे मार्ग व्यय और कुछ दिन निर्वाह के उद्देश्य से कुछ धन भी दिया, जिससे वह तुरन्त वहाँ से भाग निकला। गाँधीजी ने भी एक बार अपने हत्यारे को छोड़ देने का आदेश दिया था भगवान् कृष्ण ने अपने हत्यारे आखेटक को उसी समय क्षमा कर दिया। और भी ऐसे अनेक सन्त पुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने अपकारकर्ता के प्रति क्रोध नहीं किया।

प्रेम और भक्ति ही साधना को पूर्ण करते हैं।

प्रेम इतना व्यापक शब्द है, जिसके असीमित अर्थ हो सकते हैं। किसी व्यक्ति या वस्तु में मन को अनन्य भाव से लगा लेना ही प्रेम का मुख्य रूप है और परिणति है उस व्यक्ति या वस्तु की प्राप्ति। सफलता असफलता निर्भर करती है अपनी लगन पर जैसी लगन होती है, वैसा ही फल होता है।

प्रेम के दो भेद प्रमुख रूप से मान्य हैं—(१) वासनामय, और (२) निष्काम। कहने की आवश्यकता नहीं कि वासनामय प्रेम किसी साधक के लिए हितकर नहीं हो सकता, वह तो उन्हीं के लिए आकर्षण की वस्तु है जो सांसारिक विषय भोगों को ही सर्वोपरि मानते और अपना परलोक सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न नहीं करना चाहते।

साधक को तो निष्काम प्रेम ही कल्याणकारी है। जैसे तो साध्य में आत्मसात् होने की ही इच्छा रहती है, वह उससे पृथक् अपना अस्तित्व रखना ही नहीं चाहता। जहाँ अपने अस्तित्व की चाहना नहीं, वहाँ न तो वासना रह सकती है और न कोई अन्य अभिलाषा ही। कबीर ने प्रेम के विषय में इस प्रकार कहा है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै तब पैठे घर माहिं॥
सीस उतारै भुइँ धरै ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै ऐसा होय त आव॥

अर्थात्—यह घर तो प्रेम का है, किसी खाला का नहीं इसमें वही प्रवेश कर सकता है जो अपना सिर उतार कर धरती पर रख दे। सिर को धरती पर और ऊपर पाँव रखो, यदि इतना साहस हो तभी इस मार्ग पर चलना चाहिए।

प्रेम प्रेम चिल्लाने मात्र से प्रेम नहीं होता, इसमें तो खुदी को ही मिटा देना होता है। एक सन्त कहते थे कि 'यदि कोई कहे कि मैं प्रेम करता हूँ तो समझलो कि उसने प्रेम का नाम सुन लिया है। यदि कोई कहे कि मुझे प्रेम में सफलता मिल रही है तो यह समझना चाहिए कि उसने प्रेम का आरम्भिक पाठ पढ़ा है।' वस्तुतः प्रेम के विषय में लोग बढ़ा चढ़ाकर आत्म-प्रशंसा करते हैं। कविवर दाऊदयाल गुप्त 'राधा' महाकाव्य में प्रेम का विवेचन करते हुए लिखते हैं—

वे मिटे जो चल दिए इस ओर को।
पा सके विरले मनुज ही छोर को॥
पा सके कुछ प्रेम में सन्यास भी।
खो गये कुछ नर प्रतिष्ठा मान भी॥
कुछ हुए उन्मत्त तज कर ज्ञान भी।
हो गये कुछ वीरवर बलिदान भी॥
प्रेम पर जो मिट गया, वह तो गया।
किन्तु जीवित भी स्वयं में खोगया॥

कैसा है प्रेम? जो इस मार्ग पर चले, उनमें से कुछ विरले मनुष्य ही लक्ष्य पर पहुंच सके। प्रेमपथ के पथिकों में से कुछ को सम्मान मिला तो कुछ अपनी प्रतिष्ठा तक खो बैठे। कुछ सांसारिक विषयों का ज्ञान भूलकर परमात्म-प्रेम में उन्मत्त हो गये तो कुछ ने इस पर अपने को बलिदान ही कर डाला। प्रेम-मार्ग पर चलता हुआ जो मनुष्य मर गया वह तो चला ही गया, किन्तु जीवित भी आत्मा के आनन्द रस में

इतना डूब गया कि उसे बाह्य विषयों की कुछ खबर ही नहीं रह सकती ।

और ऐसा ही प्रेम साधक का कल्याण कर सकता है । यदि उसमें इतनी तन्मयता और अपने को भी मिटा देने की लगन का अभाव है, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती । उस स्थिति में निराशा तो हाथ लगती है, दूसरों की नजरों में भी गिरना होता है । कवि ने इसी को प्रतिष्ठा और सम्मान का नष्ट होना कहा है । वास्तव में प्रेम लौकिक नहीं, अलौकिक होता है, उसमें बहुत ऊँचे प्रकार का अध्यात्म रहता हैं' जिसे समझ लेने पर साधक को आगे बढ़ने में सहायता मिलती रहती है ।

प्रेम की कितनी शक्ति है कि वह साधक और साध्य के भेद को ही मिटा देती हैं, प्रतिपात्र में प्रेमी का अन्तर्भाव कर देती है । योगाचार्यों ने इसी को साध्यवृत्ति कहा है । जो जिसे जपे उसी के रूप का हो जाये, यही साध्यवृत्ति है । साँई बुबुलेशाह ने इसका चित्र हीर-राँझा के उदाहरण द्वारा इन दो पंक्तियों में दिया है—

राँझा राँझा करदी नीं, मैं आपे राँझा होई ।
सद्दो नी मैंनूँ धोओ राँझा, हीर न आँखे कोई ।।

हीर कहती है कि मैं तो राँझा राँझा पुकारती हुई स्वयं ही राँझा बन गई हुँ । अरी बेटियो । अब मुझे राँझा ही कहो, हीर कोई न कहना ।

यही दशा भगवान् कृष्ण के विरह में कृष्ण-कृष्ण पुकारती और उनके चरित्रों का स्मरण करती हुई गोपियों की हुई थी । कविवर श्री दाऊदयाल गुप्त ने अपने कृष्ण चरित मानस' में कहा है—

चौथी कहहि व्यर्थ दुख माना ।
मैं हरि स्वयं सकल गुनखाना ।।
नाथेउँ नाग असुर बहु मारे ।
नग कर धर जन संकट टारे ।।

हरन करेउँ सुरराज मद बोधेउँ बिधना मूढ़।
सुनहु सखी गुन कर्म कर मम चरित्र अति गूढ़।।

चौथी सखी कहती है कि 'अरी सखियों ! तुम तो व्यर्थ ही दुःख मान रही हो, सर्व गुण सम्पन्न श्रीकृष्ण तो मैं ही हूँ। देखो, मैंने कालिय नाग को नाथा, बहुत से राक्षस मारे, हाथ पर गोवर्धन पर्वत धारण कर स्वजनों के संकट दूर किये। मैंने ही देवराज इन्द्र का गर्व हरण किया और मूर्ख ब्रह्मा का अज्ञान नष्ट किया। हे सखियों ! सुनो, गुण-कर्मों के द्वारा मेरे चरित्र अत्यन्त गूढ़ (रहस्यमय) हैं।

इस प्रकार सच्चा प्रेम साधक को अपनत्व से, अहंभाव से दूर कर देता है, उसमें साध्य का भाव उत्पन्न कर देता हैं, जिससे उसमें साध्य-वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। शरीर नहीं बदलता, वृत्ति बदल जाती है, ज्ञान बदल जाता है। खुदी समाप्त होने पर ही तो ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है।

प्रेम का ही एक रूप भक्ति है। इसमें साधक-साध्य में सेवक-स्वामी का भाव रहता है। विद्वानों ने भक्ति मार्ग को परमात्मा तक पहुंचने का एक अत्यंत सरल साधन माना है। उपासना के तीन प्रमुख अङ्ग हैं कर्म ज्ञान और योग, भक्ति में इन तीनो का ही समावेश होने से यह सब से ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुकी है।

कर्म-काण्ड में श्रम के अतिरिक्त धन का भी बहुत व्यय होता है, इसलिए सर्व साधारण के लिए सुलभ नहीं है। इसे वे ही कर सकते हैं जो धनवान हों अथवा वनवासी हों। क्योंकि वनों में भी अनेक द्रव्य सुलभ रहते हैं। फिर भी दक्षिणा आदि की समस्या रहती ही है।

यज्ञ-कर्म प्रायः सकाम होते हैं, इसलिए उनके द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग भी उतना प्रशस्त नहीं रहता। यज्ञों का फल स्वर्ग-प्राप्ति ही अधिक है जिससे संसार में आवागमन का झंझट भी बना ही रहता है।

ज्ञान-मार्ग में साधक को परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान तो हो जाता है, किन्तु अकेला ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति नहीं करा पाता। उसके साथ अन्य साधन भी करने होते हैं। किसी बात को जान लेना एक बात है और उसे क्रियात्मक रूप से करना दूसरी। इसलिए मोक्ष प्राप्ति का यह भी कोई ठोस एवं सरल साधन नहीं माना जाता।

योग-साधना में कष्ट अधिक होता है। उससे थककर अनेक साधक भाग खड़े होते हैं। जहाँ अधिक परिश्रम या अधिक कष्ट हों, वहाँ तो कोई अत्यन्त लगन वाला ही ठहर सकता है। इसलिए योग भी सभी के बश की बात नहीं।

भक्ति में न अधिक परिश्रम है, न कोई कष्ट। उसमें जो कर्म-ज्ञान और योग, यह तीनों साधम भी स्वतः समाविष्ट रहते हैं। भक्त जो कुछ करता हैं, वह कर्म है, जो कुछ जानता है, वही ज्ञान है और अपने उपास्य में जो आत्म भाव रखता है वही योग है।

वस्तुतः चित्त वृत्ति को उपास्य के गुण, चरित्र आदि का ध्यान करते हुए उसके रूप में लीम कह देना ही योंग है। योगी पुरुष भी योग क्रियाओं को करते हुए ऐसा ही करते हैं। अष्टांग योग का सातवाँ साधन ध्यान है, जो कि योग-मार्ग में छः सीढ़ियाँ पार करने पर ही किया जाता है, उसके बाद योग के आठवें अंग समाधि की अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

भक्ति में उतना झंझट नहीं, भक्ति का आरम्भ करो और सीधे ध्यान पर पहुंचो। वास्तव में भक्ति का आरम्भ ही ध्यान से होता है। जब तक उपास्य का अनन्य मन से ध्यान न किया जाय, तब तक भक्ति कैसी ?

और जब भक्ति में तन्मय तथा ध्यान में लीन भक्त अपना आपा खो बैठता है, तभी समाधि लग जाती है। योगियों ने समाधि के भी अनेक रूप बताये हैं, किन्तु भक्ति-मार्ग में उसके किसी भी रूप विशेष

रूप से निर्देश नहीं मिलता। क्योंकि भक्त तो अपने को भूल कर उपास्य के रूप में समा जाने का प्रयत्न करता है।

भक्त का हृदय विशाल होता है, उसमें दीनता और नम्रता के भावों के साथ दास्य-भाव की प्रमुखता रहती है। अनेक विद्वानों और आचार्यों ने नवधा (नौ प्रकार की) भक्ति का उल्लेख किया है—श्रवण मनन, स्मरण, उपास्य की चरणसेवा पूजा, पद-वन्दना, दास्य-भाव, सख्य-भाव और आत्म-निवेदन यह नौ प्रकार हैं भक्ति के। नारद ने ग्यारह प्रकार के अनुरागों का वर्णन किया है, वे भी भक्ति के ही भेद हैं।

भक्ति के प्रकार कितने ही हों, उनके द्वारा एक उपास्य की ही उपासना रहती है, इसलिए चित्त प्रायः एक में ही लीन रहा आता है। उन्हीं का चरित्र सुनने, उन्हीं के गुणों का मनन और स्मरण करने से चित्त में तन्मयता भी आजाती हैं। सेवा, पूजा, पद वन्दन आदि से चित्त विनम्रता और अनुशासन का अभ्यासी हो जाता है।

दास्य भाव रहे या सख्य भाव नम्रता दोनों में ही होनी चाहिए। जहाँ नम्रता नहीं, वहाँ न दासता बनती है न मित्रता। जब स्वामी-सेवक का भाव होता है तब चाहे स्वामी भले ही अपने उपासक को मित्र रूप में स्वीकार कर ले, किन्तु उपासक में तो स्वामी के प्रति सेवक-भाव रहना चाहिये।

मित्र भाव में बराबरी रहती है, जो कि स्वामी की प्रति नहीं होनी चाहिए। बराबरी दम्भ को उत्पन्न करती और नम्रता के भाव को कम कर देती है, इसलिए अधिक विद्वानों ने दास्य भाव को श्रेयस्कर माना है।

भक्त अपने स्वामी का सेवक रहते हुए भी मित्र का अभिप्राय उससे है जिसके मन में द्वेश, ईर्ष्या आदि का किंचित् भी भाव न हो और साथ ही प्रीति भी हो उसके प्रति। यदि द्वेश, ईर्ष्या आदि रहें तो फिर बिन-

म्रता न रहकर अपकार की भावना उत्पन्न हो सकती है। आगे चलकर यही अपकार-भावना हिंसा का रूप धारण कर लेती है।

स्वामी कैसा भी हो, सच्चे सेवक को उसके अवगुणों से कोई मतलब नहीं। वह तो उसके गुण ही गुण देखता है। यदि अवगुण देखने लगे तो सेवा या भक्ति हो ही नहीं सकती। इसलिए यह आवश्यक है कि उपासक जिस रूप की उपासना करना चाहे, उसके विषय में पहिले पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो लेना चाहिए।

उपास्य मान लेने पर उसके गुणों में शंका करना उचित नहीं। शका उठी तो उठी फिर उसका समाधान सहज ही नहीं हो पाता। क्योंकि शंका तर्क को जन्म देती है और तर्क तो एक पूरा झांड़-झंखाड़ ही है, एक में से एक शाखाएं फूटती ही रहती हैं उसमें।

परन्तु, भक्ति में तर्क को स्थान नहीं, सशय को भी प्रशय नहीं दिया जाता। 'संशयात्मा विनश्यति' के अनुसार जो साधक संशय वाला होता है, वह नष्ट होजाता है। अर्थात् उसकी साधना नष्ट होजाती है।

इसलिए निःसंशय भाव से ही उपासना करना श्रेयस्कर' होता है। समस्त साधनों का अन्तिम फल संशय-रहित भक्ति ही है। इसमें उपा-स्य के प्रति अनन्य प्रेम रहता है। जहाँ प्रेममयी भक्ति है, वहाँ पर-मात्मा की प्रसन्नता रहनी ही चाहिए क्योंकि उसका साधक अपने स्वा-मी का सच्चा चाहने वाला होता है।

परन्तु भक्ति भी निष्काम होनी चाहिए। जिसमें कामना निहित हो वह भक्ति सच्ची नहीं हो सकती। कामना के साथ की जाने वाली भक्ति तो एक सौदेबाजी है। उसी प्रकार जैसे कोई अपनी वस्तु देकर उसका मूल्य या एवज, माँगे। दान तो दे, किन्तु प्रतिपाद के मूल्य पर।

जहाँ कामना है, वहां वासना भी रहेगी। वैसे, कामना और वासना में कुछ अन्तर भी नहीं है, प्रकार भेद से यह दोनों एक-दूसरी की पर्याय

भी हो सकती हैं। इससे स्पष्ट है कि कामनामयी भक्ति भक्त को सांसा-रिक विषयों की ओर खींच कर ले जाती है। इसका परिणाम होता है वही, जन्म-मरण रूप बन्धन बार-बार मृत्यु और जन्म, तब तक जब तक महाप्रलय न होजाय।

फिर कामना के साथ भक्ति की तो क्या की ? सभी विद्वान कहते हैं कि कामना ही नरक रूप है, वह चाहे भौतिक सुख भले ही प्राप्त करा दे, किन्तु भगवान के चरणों की प्राप्ति तो नहीं करा सकती।

स्वर्ग प्राप्ति की कामना भी एक प्रकार की वासना ही है। स्वर्ग का मिलना अक्षत सुख रूप तो होता नहीं, क्योंकि वहाँ जाने का सौभाग्य मिला भी तो फिर लौटना भी तो फिर लौटना भी पड़ेगा। स्वर्ग में कोई प्राणी सदैव नहीं रह सकता, बरन शुभ-कर्मों का फल क्षीण होने पर उसे गिरा दिया जाता है वहाँ से। फिर यह आवश्यक नहीं कि वह मनुष्य शरीर ही पुनः प्राप्त करले। चौरासी लाख योनियाँ हैं, कर्म योगानुसार, उनमें से किसी भी एक की प्राप्ति हो सकती है।

मनुष्य शरीर कोई सामान्य बात नहीं। उसकी प्राप्ति तो तभी होती है, जब उसमें अभुक्त कर्म इतने शुभ हों कि मानव देह मिल हो जाय। उनके प्रभाव में मानव का यह पुण्यमय शरीर नहीं मिल सकता। क्योंकि जीव का समस्त कार्य-कलाप उसके द्वारा किये गये कर्मों पर निर्भर है। उन कर्मों के क्षय के लिये भी विद्वानों ने दो उपाय मुख्य रूप से स्वीकार किये हैं-(१) फल-भोग के द्वारा और (२) पुण्यकर्मों में परमात्मा का चिन्तन भी सम्मिलित है। जो कि सद्गुरु द्वारा बताये गये विधि विधान से क्रिया जाना चाहिए।

जीव संसार में आकर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार रूप पाँच प्रबल शत्रुओं के फन्दे में पड़कर सहज ज्ञान भूल जाता है और वह कर्म-अकर्म को भी समझने में असमर्थ रहता है। वह स्वयं अपना कर्तव्य

निश्चित नहीं कर सकता, इसीलिए उसे गुरु की आवश्यकता होती है। यदि गुरु वास्तव में ज्ञानी और अनुभवी हो तो अवश्य ही बेड़ा पार लगा सकता है।

ज्ञान के साथ अनुभव की भी बड़ी आवश्यकता है। ज्ञान है और अनुभव नहीं तो वह ज्ञान भी अधूरा ही है, क्योंकि किसी भी ज्ञान की परिणिति बिना अनुभव असम्भव है। इसीलिए तो विज्ञान की शिक्षा में लिखित या मौखिक अध्ययन के साथ प्रयोगात्मक (प्रेक्टिकल) शिक्षा का भी समावेश किया जाता है।

केवल पुस्तकें पढ़ने मात्र से पूरा ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिए गुरु भी वही योग्य हो सकता है जो पुस्तकीय ज्ञान में ही पारंगत न हो, अनुभवी भी हो। ऐसा गुरु मिले तो ही साधक का निस्तार हो सकता है। अतः गुरु बनाने में भी इस बात का ध्यान किया जाना चाहिए।

साधना के दो प्रमुख अंग हैं—(१) अभ्यास, और (२) प्रेम, मन की एकाग्रता के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है। मन चंचल है, उसे बार-बार पकड़ कर एक स्थान पर बैठाना होता है। अभ्यास उस सजग सैनिक के समान हैं जो बलपूर्वक इधर-उधर जाते हुए को पकड़-कर एक स्थान पर बैठने के लिए विवश कर देता है। प्रायः देखते हैं कि वर्षों अभ्यास करते रहने पर भी मन अपने चपल क्रिया-कलापों को छोड़ना नहीं चाहता। 'चोर चोरी से जाय, किन्तु हेरा-फेरी से नहीं जाता' वाली लोकोक्ति ही मन के प्रति चरितार्थ हो सकती है।

परन्तु, अभ्यास से भी ऊपर है अनन्य प्रेम। यदि सुदृढ़ता पूर्वक अपने आराध्य के प्रति प्रेम है तो मन भी उधर ही जायगा अभ्यास में दृढ़ता लाने के लिए भी प्रेम का सहयोग बहुत आवश्यक है। बिना प्रेम तो अभ्यास भी निरर्थक है, इसलिए प्रेम का महत्व अभ्यास से भी अधिक स्वीकार किया जाता है।

जहाँ प्रेम है, वहाँ भक्ति भी स्वतः उत्पन्न हो जायगी और भक्ति है तो भगवान् भी दूर कब तक रहेंगे ? उन्हें आना ही होगा अपने भक्त के समक्ष, किन्तु उनका रूप जैसी प्रकार का होगा, जैसी साधक की भक्ति होगी। 'ये यथा 'मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार जो उन्हें जिस प्रकार याद करते हैं, वे उन्हें (भक्तों को) उसी प्रकार याद रखते हैं। दूसरे शब्दों में दिल-दिल पहिचानता है।

एक और लोकोक्ति है—,जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरत देखी तिन्ह तैसी' गो० तुलसीदास जी का यह वचन भी कुछ कम तथ्य पूर्ण नहीं है। जैसी भावना, वैसे दर्शन, वही ध्येयाकार वृत्ति का प्रश्न। जब तक वृत्ति में ध्येय सात्मय नहीं हो जाता तब तक भगवान् नहीं मिल सकते।

भक्ति और वृत्ति का पारस्परिक योग अपेक्षित है। भक्ति उत्पन्न होती है, प्रेम से। उसकी उत्पत्ति होने पर प्रेम भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है और जब प्रेम बढ़ता है, तब भक्ति आगे बढ़कर चित्त वृत्ति को भी अपने साथ कर लेती है। वस्तुतः चित्तवृत्ति उस पर्दे के समान है, जिस पर चल चित्र बार-बार बनते बिगड़ते हैं। जैसी फिल्म होगी, वैसा ही चित्र पर्दे पर उपस्थित होगा। इसी प्रकार वृत्ति पर जैसी भक्ति का अक्स पड़ेगा, वैसा ही आकार बनने लगेगा। तुलसीदास जी का कथन है —

तुलसी ऐसी प्रीति कर, जैसे चन्द्र चकोर।
चोंच झुकी गरदन गली, चितवैवाही ओर ॥

अर्थात्—ऐसी सुदृढ़ प्रीति करनी चाहिए। जैसी कि चकोर चन्द्रमा से करती है। चन्द्रमा को एकटक निहारते हुए उसकी चोंच झुक जाती और गर्दन अकड़ जाती है, फिर भी वह उसे देखना नहीं छोड़ती।

साधक में भी जब तक ऐसी प्रीति और भक्ति नहीं होगी, तब तक वह सफल नहीं हो सकता। अनेक व्यक्ति दिखावे में तो प्रीति करते हैं, किन्तु उनका मन अन्यत्र भटकता रहता है, ऐसे लोग परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करना तो दूर, उनके मार्ग में प्रविष्ट भी नहीं हो सकते।

प्रेम और परमात्मा का सम्बंध उसी प्रकार है, जैसे चुम्बक और लोहे का होता है। सभी जानते हैं कि चुम्बक लोहे को खींचकर अपने साथ चिपका लेता है। वैसे ही सच्चा प्रेम परमात्मा को अपनी ओर खींचता और फिर उसी में घुल-मिल जाता है। उस समय प्रेम रूप परमात्मा जीव को अपने आश्रय से दूर नहीं जाने देता।

नाद योग की साधना विधि

नाद की दो विधियाँ लोक में प्रचलित हैं। एक बाह्य नाद की और दूसरी आन्तरिक नाद की। दोनों अपने २ ढंग से प्रभावशाली हैं। दोनों में से किसी को भी सुविधानुसार अपनाया जा सकता है। पहले कुछ समय तक बाह्य नाद का अभ्यास करें। फिर आन्तरिक नाद की साधना करनी चाहिए।

नाद के लिये एकान्त, शान्त और पवित्र वातावरण हो। जहाँ तक सम्भव हो, कमरा खाली हो। उसमें अधिक अनावश्यक वस्तुएं न भरी हों, ध्यान योगियों के चित्र दीवारों पर टंगे हों। कमरा बन्द हो। धूप अगर बत्ती जल रही हो किसी भी सुविधाजनक आसन में लकड़ी की चौकी पर स्थित रहे। चौकी पर कुशासन, ऊनी आसन और फिर सूती वस्त्र बिछा हो। बाह्य नाद को नाद ब्रह्म ध्यान की संज्ञा दे सकते है।

नाद ब्रह्म ध्यान

प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में अथवा सायं काल के ध्यान के लिए शान्त भाव से नेत्र बन्द करके बैठें। पेट खाली रहे अन्यथा ध्यान में बाधा आएगी और नाद गहरा नहीं जा पायगा। कुछ खाना आवश्यक हो तो कम से कम ३ घण्टे पूर्व हल्का पेय लिया जा सकता है।

नेत्र और मुख दोनों बन्द करके भीतर ही भीतर "हुँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ" की नाद ध्वनि करें। धीरे धीरे ध्वनि को तीव्र करें। निःसंकोच इसे तीव्रतर करते चले जायें ताकि पूरे शरीर में कम्पन उत्पन्न हो सकें। सुविधानुसार ध्वनि को ऊंचा नीचा भी किया जा सकता है। मन को बाह्य विषयों से हटाकर केवल ध्वनि पर ही केन्द्रित करना चाहिए। अभ्यास से मन स्थिर होने लगेगा और अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा। उलझे और अशान्त मन वाले व्यक्तियों को इससे असाधारण लाभ होगा।

जिस तरह से सर्प बीन बजाने से लहराने लगता है, उसी तरह नाद योगी का मन भी नाद ध्वनि में खो जाता है और उच्च अभ्यास होने पर मन का लय भी हो जाता है। आरम्भिक स्तर पर तो मन ध्वनि में रस लेने लगता है और आनन्द की मस्ती में झूमने लगता है। मन की मस्ती का प्रभाव शरीर पर भी पड़े बिना नहीं रहता। परिणाम स्वरूप शरीर भी झूमने के लिए बाध्य हो जाता है। साधक जब तक नाद ध्वनि करता रहता है, तब तक यह प्रक्रिया जारी रहती है। बाहरी सांसारिक सुखों को भूलकर मन अन्तर्मुख होकर इसी आनन्द के पीछे भंवरे की तरह मंडराता रहता है और अन्ततः इसे पा लेता है। यह साधना की सफलता का चिन्ह है।

नाद योग की साधना जब आगे बढ़ती है तो शरीर के शिथलीकरण की क्रिया स्वयंमेव सम्पन्न होने लगती है। शरीर एक दम शिथिल नहीं

हो पाता है। कई चरणों में यह प्रक्रिया पूर्ण होती है। नाद ध्वनि करते-करते ऐसा अनुभव होता है कि पीठ के निचले भाग में कुछ गाँठ खुलने जैसी आवाज आई है और शरीर कुछ शिथिल होकर पीछे की ओर झुका है। यह कई बार होता और अन्त में शरीर गिर जाता है। शरीर पूर्ण शिथिल होने पर ही गिरता है। यह क्रिया कितनी देर में हो पायगी, यह मन के ध्वनि में लय होने पर निर्भर करता है।

जब यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है तो शान्त भाव से नेत्र बन्द करने पर थोड़ी देर बैठने पर ही शिथलीकरण हो जाता है। उच्च साधकों के नेत्र खुले रहने पर भी शरीर शिथिल होने की क्रिया संञ्चालित होने लगती है। शरीर का शिथिल होना ध्यान के लिए परम उपयोगी रहता है।

नाद ध्वनि करते समय यह भावना करनी चाहिए कि हमारा शरीर बाँस की खाली पोंगरी की तरह है और केवल ध्वनि के कम्पनों से ओत-प्रोत है। साधना जब उच्च स्तर पर पहुँच जायगी तो हम केवल अपने को श्रोता ही अनुभव करें और नाद की ध्वनि अपने आप ध्वनित होती रहेगी। साक्षी भाव जागृत हो जायगा।

ध्वनि ३० मिनट तक की जा सकती है। कान में रुई या कोई डाट लगाना भी अच्छा रहेगा। नाद ब्रह्मध्यान का यह पहला चरण हुआ।

दूसरे चरण की सहयोगी क्रिया प्रभावशाली है। इससे हाथों में ऊर्जा उत्पन्न होती है। विधि इस प्रकार है—

हाथ की हथेलियों को ऊपर की ओर करके हाथों को सामने की ओर ले जाकर बहुत ही धीमी गति से चक्राकार घुमाएँ ताकि दायां हाथ दांयी ओर को और वायां हाथ वायीं ओर को घूमें। एक चक्र पूरा होने पर हाथ पूर्व की स्थिति में ही आ जांए। यह क्रिया करते समय

भावना करें कि शरीर से उत्पन्न ऊर्जा को आप ईश्वर को समर्पित कर रहे हैं। समर्पण भाव पूर्ण हो, इस क्रिया को बार-बार साढ़े सात मिनट तक करें। अब हथेलियों को नीचे कर दें और हाथों को दूसरी दिशा में घुमाना आरम्भ करें। पहले की तरह हाथों को छाती के सामने रखें और अब अपनी ओर लाएं। इसके बाद इन्हें चक्राकार इस प्रकार घुमाएं कि दायां हाथ दायीं ओर को व बायां हाथ बायीं ओर को बहुत धीमी गति से घूमे। एक चक्र पूरा करें। साढ़े सात मिनट तक इसी क्रिया की पुनरावृत्ति करते रहें और भावना करें कि चारों ओर फैली ऊर्जा को आप समेट रहे हैं।

आप अनुभव करें कि हाथों में उत्पन्न उर्जा सारे शरीर में फैल रही है जो साधना के उच्च विकास में परम सहायक होती है। इस क्रिया में शरीर हिलता है तो हिलने दें, गिरता है तो गिरने दें।

१५ मिनट के दूसरे चरण के बाद दोनों भौहों के मध्य में ध्यान करें। यह ध्यान का तीसरा चरण भी १५ मिनट तक चलता रहे।

सुरत शब्द योग

अब आन्तरिक नाद ध्वनि का विवेचन किया जा रहा है। जो संस्थाएं इस साधना का प्रतिपादन व प्रचार-प्रसार करती हैं, वे इसे प्रायः गुप्त ही रखती हैं और केवल दीक्षा के समय ही शिष्यों को विधि का शिक्षण दिया जाता है। शिष्यों को भी निर्देश दिया जाता है कि वे भी विधि की जानकारी किसी को दें, और न ही अपनी अनुभूतियों का विवरण किसी को बताएं। तर्क यह दिया जाता है कि साधना की सफलता दूसरों की अपेक्षा कम रही तो साधक में हीन भाव उत्पन्न हो जायगा और दूसरे की अपेक्षा साधना अधिक सफल रही तो अहंकार की भावना बढ़ने की सम्भावना रहेगी जो साधक के लिए घातक सिद्ध

होगी। वास्तविकता यह है कि साधना को गुप्त और सीमित रखा जाता है जो किसी भी धर्म और जाति के लिए हितकर नहीं रहता।

आन्तरिक नाद ध्वनि को सुरत शब्द योग की संज्ञा दी जाती है। विधि इस प्रकार है-नाद योगियों का आदेश है कि मुक्तासन में स्थित होकर योगी शाम्भवी मुद्रा को ग्रहण करके एकाग्र वृद्धि से दक्षिण कर्ण में नाद का श्रवण करे, कान, नेत्र, नासिका के दोनों छिद्र और मुख का निरोध करे। इससे सुषम्ना मार्ग से स्फुट, अमल नाद सुनाई देता है।

साधक किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठ सकते हैं। परन्तु अधिक देर तक बैठने के लिए उपयुक्त यही रहेगा कि पैरों के बल बैठ कर दोनों कोहनियों को घुटनों पर रखें और हाथों के अंगूठों को कानों में इस प्रकार लगा दें कि हाथों की शेष अंगुलियों से आँखें और मस्तक ढक जाय। कानों को बन्द करने से स्वाभाविक रूप से स्पष्ट नाद सुनाई देता है। इसे दायें कान से सुनने का प्रयत्न करें। मन को बाह्य सांसारिक विषयों से हटाकर उस आन्तरिक ध्वनि पर ही केन्द्रित कर दें।

नाद साधना की अनुभूतियों की चार अवस्थाएं मानी जाती हैं। आरम्भावस्था में क्वणक् रूप अनाहत नाद उत्पन्न होता है। इससे योगी का शरीर दिव्य गन्ध से परिपूर्ण रोग रहित और दिव्य हो जाता है। दूसरी घटावस्था में परमानन्द प्राप्ति के सूचक विभर्द नामक वाद्य विशेष और भेरी का शब्द अति शून्य रूप में सुनाई देने लगता है। यह शब्द अत्यन्त आनन्द युक्त होता है जिसमें योगी नितान्त रूप से रम जाता है।

तीसरी परिचयावस्था में मर्दल संज्ञक वाद्य विशेष की ध्वनि सुनाई देती है। उस समय भौंहों के मध्य आकाश स्वरूप एवं अणिमा आदि सिद्धियों के आश्रय महाशून्य में प्राण वायु जा पहुँचता है। इससे साधक अणिमादि आठों सिद्धियों और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाता है।

नाद की चौथी निष्पत्ति अवस्था में साधक को वंशी और वीणा के शब्द सुनाई देने लगते हैं और चित्त में एकाग्रता आ जाने से राज-योग की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि चित्त की एकाग्रता ही राजयोग है। ऐसा साधक असाधारण रूप से शक्तिवान, ऐश्वर्यवान और सब प्रकार से समर्थ हो जाता है। यह निश्चित है कि इस प्रकार नादानुसन्धान से अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है। नाद के अनुसन्धान से जो समाधि अवस्था आती है, उससे साधक के हृदय में अपार आनन्द की अनुभूति होती है जिसका वाणी से वर्णन करना असम्भव है।

प्रथम अभ्यास में साधक को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं और फिर अभ्यास बढ़ जाने पर सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुनने में आजाते हैं। प्रारम्भ में समुद्र, फिर मेघ, फिर भेरी झर्झरी के और मध्य में मर्दल, शंख तथा घण्टा के शब्द सुने जाते हैं। अन्त में किंकणी, वंशी, वीणा और भौरों का गुन्जन आदि अनेक प्रकार के नाद शरीर में सुनाई देते हैं।

मेघ, भेरी आदि जैसी महती ध्वनि सुनने पर भी वहाँ सूक्ष्म से भी सूक्ष्म नाद का चिन्तन करना चाहिये। महान नाद को छोड़कर सूक्ष्म नाद में और सूक्ष्मनाद को छोड़कर महान् नाद में रमण करते हुए चित्त को अन्यत्र न जाने दें। जिस किसी भी नाद में पहले मन लगे, वहाँ ही स्थिर करने से उसका लय हो जाता है। जैसे मकरन्द का पान करता हुआ भौंरा पुष्प की गन्ध से अनपेक्ष रहता है, वैसे ही नादासक्त चित्त भी विषयों की आकांक्षा नहीं करता।

विषय रूपी उद्यान में मदोन्मत्त गजेन्द्र के समान विचरण करते हुए मन को वश करने में नाद रूप तीक्ष्ण अकुश ही समर्थ हो सकता है। नाद के बन्धन में बंधा हुआ मन अपनी चपलता का भले प्रकार से त्याग करके पर कटे पक्षी के समान अत्यन्त निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। सब चिन्ताओं को छोड़कर सावधान चित्त से जो योगी योग की उच्च स्थिति की इच्छा करता है उसे नाद का अनुसन्धान करना चाहिए।

नाद के श्रवण से मन रूपी अन्तरङ्ग सर्प शीघ्र से सब कुछ भूलकर एकाग्र हो जाता है और फिर कहीं नहीं दौड़ता। जैसे काष्ट में प्रवृत हुई अग्नि काष्ट के सहित ही शांत होती हैं वैसे ही नाद में युक्त हुआ चित्त इसमें संयुक्त होकर लय को प्राप्त होता है।

इस तरह से नादानुसन्धान परमात्म प्राप्ति की श्रेष्ठतम साधनाओं में से एक है जिसके द्वारा निश्चित रूप से उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति तक पहुंचा जा सकता है।

प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में ४५ मिनट तक इस साधना का अभ्यास करना चाहिए। यह साधना का पहला चरण है।

दूसरे चरण में भौंहों के मध्य आज्ञाचक्र में ध्यान करें। ध्यान के लिए पैरों के बल न बैठें वरन् सिद्धासन्, सुखासन अथवा किसी सुविधा-जनक आसन में बैठ सकते हैं। इसे भी ४५ मिनट तक करना चाहिए। इस ध्यान के साथ ओंकार का मानसिक जप शान्तिपूर्वक चलते रहना चाहिए। मन का बार-बार इधर उधर जाना स्वाभाविक है। इसे इसी स्थान पर केन्द्रित रखना चाहिए। ध्यान में अनेक प्रकार के रङ्ग और विभिन्न प्रकार की आकृतियां दिखाई देती रहती हैं। ध्यान की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि मन की दौड़ धूप कम हो जाय और साधना में उसे आनन्द आता रहे।

नाद अथवा ध्यान की स्थिति में शरीर हिलता है तो हिलने दें। गिरता है तो गिरने दे, शिथिल होकर जिधर को भी झुके, झुकने दें, जहाँ टिक जाय, उसी स्थिति में ध्यान करते रहे। शरीर के शिथिल होने पर ध्यान अधिक सफल प्रतीत होगा। मन के लय होने की स्पष्ट प्रतीति हाने लगेगी और समाधि अवस्था भी आ सकती है।

यह डेढ़ घण्टे का साधना क्रम है। इसे प्रातः काल के अतिरिक्त सांय काल को भी किया जा सकता है। सुविधानुसार समय कम भी किया जा सकता है।

विश्व ओंकार परिवार की स्थापना

ऊँ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र राज, बीजमन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम्, महानतम् और पवित्रतम् मन्त्र की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं है। ऊँ सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से प्रभावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता हैं। भौतिक व आत्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषि मुनि ऊँ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते रहे हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ऊँ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी का अनुभव करते हुए विश्व ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय, बरेली से मंगवा लें, आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके ४ अन्य मित्रों व सम्बन्धियों को प्रेरित करें और संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष ३३००० साधकों द्वारा १५०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के इस श्रेष्ठतम् आध्यात्मिक महायज्ञ में सम्मिलित होकर महान् पुण्य के भागी बनेंगे।

विनीत :—

संस्कृति संस्थान **चमनलाल गौतम**

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली-२४३००३ (उ० प्र०)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

डा० चमनलाल गौतम एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशन और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के विना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण व मन्त्र-तन्त्र आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व असाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन, तप प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वस्थ साहित्य रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ।

पिछले २४ वर्षों से लगातार चल रही अध्यात्मिक साधना के महापुरश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण-आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ विश्व ओंकार परिवार की स्थापना के साथ बसन्तपञ्चमी की परम पवित्र बेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिकभूमिका में प्रशस्त करना, ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

स्वामी सत्य भक्त

योग साहित्य

१—योग और यौवन		७)५०
२—योग और पुरुषत्व		६)५०
३—योग और महिलायें		७)
४—योग के चमत्कार		६)
५—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग		१०)
६—योगासन से रोग निवारण		७)५०
७—सूर्य नमस्कार से रोग निवारण		६)
८—अष्टांग योग सिद्धि		१०)
९—अष्टांग योग रहस्य		१०)
१०—हठयोग प्रदीपिका	(भा० टी०)	६)५०
११—घेरण्ड संहिता	(भा० टी०)	६)
१२—शिव संहिता	(भा० टी०)	६)
१३—गोरक्ष संहिता	(भा० टी०)	६)
१४—बृहत् शिव स्वरोदय	(भा० टी०)	७)
१५—हिप्नोटिज्म (सम्मोहन विज्ञान)		७)
१६—भारत के योगी		४)५०
१७—योग महाविज्ञान		१२)
१८—कुण्डलिनी जागरण		७)
१९—ध्यान की सरल साधनायें		६)५०
२०—ध्यान के गहरे प्रयोग		७)
२१—नाद योग		६)
२२—त्राटक से मानसिक शान्ति		५)५०
२३—त्राटक से समाधि		६)
२४—त्राटक से रोग निवारण		४)
२५—त्राटक द्वारा मृत्यु पर विजय		५)२५

प्रकाशक :
संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली २४३००३ (उ०प्र०)